पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण

(कुशंका, खिलवाड़ - समाधान)

गोस्वामी श्याम मनोहर
(किशनगढ, पार्ला)

प्रकाशक : गोस्वामी श्याम मनोहर,
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
जुहु चौथा रस्ता,
विलेपार्ले - मुंबई - ४०० ०५६.

सहयोग प्रकाशन : १. श्रीमती उर्मिला म. शाह, मुंबई
२. श्रीमती कीर्ति म. बाराई, मुंबई
३. श्रीमती शिल्पा शैलेश लाखाणी, मुंबई

संकलनकार : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : वि.सं.२०७५, श्रीमत्प्रभुचरणोत्सव.

प्रति : ५००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक :
रमा आर्ट्स,
४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई : ४०० ०५९.

प्रकाशकीय

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणद्वारा "**पुरुषस्य अविशेषेण संसारं प्रजिहासतो हरेः आराधने मुक्तिः तत्प्रकारो निरूप्यते : माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः तया मुक्तिः नच अन्यथा. माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां शास्त्राणाम् उपयोगो अत्र तत्र आकांक्षा गुरोः भवेद्, देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः गुरुणा कर्मधारेण हि उत्तार्याः स्वोपदेशतः**"(साध.दीपि.७-११) ऐसा सुस्पष्ट निर्देश दिया है. इस सम्प्रदायमें हम वल्लभवंशजोंका गुरुपदासीनतया कर्तव्य शास्त्रोपदेश ही माना गया है नकि निजगेहपरिवारमें सेव्य भगवत्स्वरूपकी सेवा भक्ति सामग्री झांकी आदिका शिष्योंके प्रतिनिधितया अनुष्ठान और धनलाभार्थ या गौरवलाभार्थ सार्वजनिक व्यावसायिक प्रदर्शन. वर्तमानमें देवालय या हवेली में दर्शनार्थी जनताके वित्तद्वारा की जाती भगवत्सेवा महाप्रभुके पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवाभक्तिके सिद्धान्तका निष्ठुर वध है. गुरुपदके सर्वथा विपरीत.

मूल विवाद या विचार का विषय तो इतना ही है. इस चर्चाको, परन्तु, खुल कर करनेका साहस न होनेके कारण श्रीनाथजीके सेवाप्रकारके बहानेसे चंचूप्रवेश हो जाये तो लाभपूजार्थप्रयत्नरूपा भगवत्सेवाका मुसलीप्रवेशके लोभमोहवशात् चर्चाको बहका दिया जाता है. खैर...

ऐसी बहकी-बहकी चर्चाओंमें जो शंका-आक्षेप उभारे गये उनका समाधान कुछ दो-तीन वर्षपूर्व ही शंका-आक्षेपकर्ताओंको लिख कर भेज दिया था, व्यक्तिशः. क्योंकि यद्यपि ये शंका-आक्षेप सार्वजनिक रूपमें प्रकट किये गये थे परन्तु समाधान पुस्तकाकाररूपमें प्रकट करनेका

दुरवसर न आये. सखेद स्वीकारना पड़ता है कि इन दिये गये समाधानोंका न तो कोई प्रत्युत्तर मिला और नहीं ये समाधान, यदि प्रतिसमाधानार्ह न हों तो शंका-आक्षेपोंसे विरति ही प्रकट की गयी. अतः बाधित हो कर पुस्तकाकारमें प्रकाशित करने पड़ रहे हैं.

इसके मुद्रणादि कार्योंमें श्रीमनीष बाराई श्रीजगदीश शाह तथा श्रीअनिल भाटिया आदिका परिश्रम अतीव धन्यवादार्ह है. तथा प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग हमें श्रीमती कीर्ति म. बाराई, श्रीमती उर्मिला म. शाह तथा श्रीमती शिल्पा शै. लाखाणी आदिका मिला वह भी निरतिशय धन्यवादार्ह है.

लेखक-प्रकाशक

प्रभुचरणोत्सव वि.सं.२०७५ — गोस्वामी श्याम मनोहर

मुंबई.

——*

विषयानुक्रमणिका

क्रं	विषय	पृ.क्रमांक
*	प्रकाशकीय	७
१.	अपसिद्धान्तमें अपवादाध्यास	१
२.	औपक्रमिक स्पष्टीकरण	१-३
३.	सिद्धान्त और अपवाद में तारतम्य, पाणिनि सूत्रके उदाहरण द्वारा.	४-५
४.	सिद्धान्त और अपसिद्धान्त में भेद	६,७
५.	वाल्लभ सम्प्रदायमें औत्सर्गिकसिद्धान्त, आपवादिकसिद्धान्त और अपसिद्धान्त के स्वरूप और प्रयोगान्वित की मीमांसा	८-१८
६.	अर्धबोध और निजी स्वार्थके कारण सिद्धान्तोंका अंगीकार और परित्याग	१९-५१
क.	श्रीनाथद्वारा मंदिर पर सर्वोच्च न्यायालयका निर्णय ref:(AIR 1987 SC 2064 CA No.2041 of 1973, D/11-8-1987)	२३-२५
ख.	समस्त आचार्यश्रीगोस्वामी बालकोंकी पुष्टिसिद्धान्तपर निर्णायक चर्चासभा ref:मुंबई समाचार सोमवार ता.१८-११-९१	२५-२६

ग.	भरुच्की पुष्टि-अस्मितासंवर्धक शिबिर ref:भरु.शिबि.विव.पृष्ठ.११९-१२०	२६-३१
घ.	सर्वोच्च न्यायालयकी गोस्वामितिलकायत महाराजकी पेपरबुकमें से ref:As an Annexture No. 5/13,5/13A along with appeal in Supreme court case No.652 & 757 in 1962 by Tilkayat Govindji Maharaj against State of Rajasthan	३२-३३
ङ.	जन्मभूमि समाचारपत्रमें प्रकाशित 'महाप्रभुजीनी वाणीना स्पर्शथी वहेम दूर थशे...लेखमें खुदके...सुझाव क्रं.४,५,और १०वे सुझाव: **पुष्टिमार्गीय श्रीकृष्णसेवानो प्रकार** क्यारे पण मर्यादामार्गीय देवालयोनी माफक सार्वजनिक होई शकतो नथी. तेथी कहेवाती पुष्टिमार्गीय सेवामां संमिलित न थवुं''. १०.पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तथी विपरीत कोई पण प्रवृत्तिमां प्रत्यक्ष के परोक्ष सहयोग न आपवो'' (मेरे शब्द : अने जो साधुभाईनी शै-शरमने कारणे, पुष्टिसिद्धान्तथी विपरीत...सहयोग आपवो ज पड़तो होय तो तेने 'अपवाद' घोषित करी देवो!?).	३३-४३
च.	श्रीनाथद्वारा ऐतिहासिक विमर्श Annals & Antiquities of Rajasthan by James Tod.page.526	४३-४९
छ.	तेरे मतानुसार... तो अब समस्या क्या है? ref:व्हॅट्स-अप् पर गो.योगेशबावा तथा गो.शरदबावा का संवाद	४९-५१

७. २४ भिन्न-भिन्न अपार्थक युक्तियां और उनका निराकरण ५२-१२८

८. अनाम भगतिनके फेसबुकद्वारा पूछे गये प्रश्न और उनको दिये गये उत्तर १२८-१३१

९. हैदराबादके वैष्णवोंद्वारा प्रेरित प्रश्नोंके उत्तर १३२-१४६

क. साकारब्रह्मवादमूलक निर्गुणभक्तिमार्गमें प्रमाण और साधनबल की प्रमुखता और उनका विमर्श १३३-१४६

१०. श्रीयोगेश व श्रीशिशिर भ्रातृ उवाच और उन दोनों के फेसबुकके माध्यमसे की गयी शंका - कुशंकाओंका यथार्थ सैद्धान्तिक समाधान १४७-१९७

११. परिशिष्ट १९८-२०३

१२ उद्धृतवचनानुक्रमणिका २०४-२१५

१३ उद्धरण तालिका २१६-२१८

——*

दुर्दैवजातेषु हि स्वीयवंश्ये -
ष्वत्यन्तविद्वेषिषु स्वीयवाचि।
स्वकीयकृष्णैकपरं स्वमार्गं
श्रीवाक्पते वल्लभ रक्षतात् स्वयम्!॥

page 6.

Page No. not to be printed

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

❊ अपसिद्धान्तमें अपवादाध्यास ❊

(कुमतिनिरासप्रायश्चित्त)

विद्यादान कुपात्रकों बढ़ै कुमति बेढंग।
डूबे आप डुबाय दे औरन् हु ले संग॥
मेरे या अपराधके प्रायश्चित्तकों आज।
वल्लभ! करों निरास अब कुमतिहरनके काज॥
सिरके ऊपर सींग दो बैलनूके जु लखाय।
सिरके भीतर जे छिपे देखनको न उपाय॥
ज्ञान-अरध पूरो गरब दरपन ना दरसाय।
वल्लभवाणीके बिना दूजो दरपन नांय॥
व्हॉट्स्-इन् सुधबुध खोयके व्हॉट्स्-अप्पे ललचाय।
वल्लभवचन-विश्वास बिन व्हॉट्स्-इन् खोज न पाय॥

(औपक्रमिक स्पष्टीकरण)

जैसा कि कहा जाता है ''मर्कटस्य सुरापानं तत्र वृश्चिकदंशनं तन्मध्ये भूतसञ्चारो यद्वा तद्वा भविष्यति'' तदनुसार मन्दमतिओंको सिद्धान्तरहस्यकी जानकारी मिलते ही अपनी मन्दमतिके अनुरूप उसका दुरुपयोग शुरु कर देते हैं. 'सिद्धान्त और/अथवा अपवाद' के समुच्चय या विकल्प के मुहावरेमें दोनोंके प्रभेदकी अधूरी जानकारीके कारण वैसाही दुरुपयोग जो हो रहा है वह इस चर्चास्पद विषयमें उभर कर सामने आया है. वस्तुतः तो ऐसे समुच्चय या विकल्प में 'सिद्धान्त'पद औत्सर्गिक सिद्धान्तके अभिप्रायवश प्रयुक्त होता है नकि

सम्पूर्ण सिद्धान्तके अर्थमें. क्योंकि सिद्धान्तका अपवाद तो हो ही नहीं सकता! यदि होता हो तो सिद्धान्त सिद्धान्त न रह कर केवल कर्तव्यविशेषका विधान या तथ्यविशेषका प्रतिपादन ही रह जाता है. अतः वस्तुतः तो अभिप्रेत तो 'उत्सर्ग और/अथवा अपवाद' ही यहां माना जाता है.

उदाहरणतया गमनशील पुरुषके बारेमें ''गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'' सुभाषितमें संकल्पवश किये जाते गमनको औत्सर्गिक माना गया है और प्रमादवश हो जाते स्खलनको आपवादिक. एतावता स्खलनकारी असावधानीकी वकालतको आपवादिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता. उसे तो अपसिद्धान्त ही स्वीकारना पड़ेगा. आधुनिक विज्ञानके अनुसार गुरुत्वाकर्षणशक्तिके वश प्रत्येक लघुकाय द्रव्यका महत्काय द्रव्यपर अधःपतन उत्सर्गसिद्धान्ततया माना जाता है और ऐसे महत्काय द्रव्यके इर्दगिर्द रहे जलीय या वायवीय पर्यावरणको नीचे-ऊपर या आगे-पीछे धकलनेकी प्रक्रिया अपनानेकी शक्तिके प्रयोग करनेपर महत्काय द्रव्यके तलपर पड़े बिना अभिवांछित दिशामें तैरा या उड़ा भी जा सकता है यह भौतिकीका अपवाद-सिद्धान्त है.

निष्कर्षतया किसी भी तथ्य घटना या कर्तव्य के सन्दर्भमें जब हम उत्सर्ग या अपवाद का विमर्श करना चाहते हों तो तब इनके लौकिक या शास्त्रीय प्रभेद को भूल जाना भी एक आत्मघाती उद्यम ही होता है. अतः कोई भी तथ्य घटना या कर्तव्य जैसे लौकिक हो सकते हैं वैसे ही शास्त्रीय भी. यह तो सहजतया माना जा सकता है कि जिनको शास्त्रोंका प्रमाण होना मान्य न हो वे तथ्य घटना या कर्तव्य के शास्त्रीय स्वरूपको लौकिक प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेपर मिथ्या या बाधित मान लें परन्तु जिनको शास्त्र प्रमाणतया मान्य हों वे तो लौकिक तथ्य घटना या कर्तव्य को शास्त्रवचनसे विपरीत होनेपर लोकव्यवहारमें प्रमाणतया मान्य रखनेपर भी शास्त्रीय

धारणा या आचरण में तो बाधित ही मानेंगे. अन्यथा शास्त्रप्रामाण्यकी स्वीकृति भी ऐसोंकी आत्मवंचना ही सिद्ध होती है परवंचना न भी हो तब भी.

जहां तक वाल्लभ सम्प्रदायका प्रश्न है वहां सम्प्रदायके आचार्यवचन सर्वोपरि प्रमाण सैद्धान्तिक रूपमें माने गये हैं, व्यावहारिक रूपमें नहीं. परवर्ती व्याख्याकारोंके तो आपसमें मतभेद कई जगह उभर आमने-सामने आ गये हैं, अत: उनके वचनोंका प्रामाण्य आचार्यवचनोंसे सुसंगत होनेकी शर्तके साथ ही मान्य हो पाता है यथाकथञ्चित् नहीं. वाल्लभ सम्प्रदायमें पूर्वानुपूर्वी चलते आते पारम्परिक नियमों या मान्यता का प्रामाण्य पूर्वोक्त उभयप्रमाणोंसे संगत होनेपर ही सिद्धान्ततया मान्य हो सकता है अन्यथा नहीं. क्योंकि सिद्धान्तसे अविपरीत या विपरीत विभिन्न देश-कालमें विभिन्न पूर्वजोंकी सामर्थ्य सर्वदा एक जैसी नहीं होती. अत: परम्परामें अनेक विरोधाभास प्रकट होते ही रहते हैं. जो हमारे पूर्वज विदेशयात्रा या विदेशिजनसंसर्ग के वश अपने अनुगामिओंको कभी भगवत्सेवाका अनधिकारी मानते थे, आज स्वयं उनके वंशज न केवल यात्रा संसर्ग परन्तु आचार-विचार भी वैसे अपनाते देखे जा सकते हैं. और उन्हीं प्रदेशोंमें भगवत्सेवार्थ सार्वजनिक देवालय खोलने अधिकाधिक परायण हो गये हैं. चार पीढ़ीके बाद इनको भी पूर्वजतया मान्य तो रखा ही जायेगा. सो पितामहके आचार-विचारको प्रमाण मानना या पौत्र-प्रपौत्रके आचार-विचारको इसका निर्धारण अशक्य होनेसे परम्पराका प्रामाण्य तृतीयकोटिका ही होता है. चतुर्थकोटिका प्रामाण्य स्वशक्य या स्वप्रिय होता है.

अत: वाल्लभ सम्प्रदायमें किसी तथ्य घटना या कर्तव्य के सैद्धान्तिक या आपवादिक अथवा अपसिद्धान्त होनेकी मीमांसा करनी हो तो इसके सिवा अन्य कोई कसौटी मानी नहीं जा सकती. इन चारोंकी एकवाक्यता होनेपर जो भी स्वरूप उभरता हो उसे निश्चित,

एकवाक्यता न दिखलायी देनेपर पूर्वपूर्वका अबाधित प्रमुख प्रमाण्य और उत्तरोत्तरका बाधयोग्य गौण प्रामाण्य या अप्रामाण्य ही मानना पड़ता है. अन्यथा जो भी शक्य हो या जंच जाये तो प्रामाणिक और शक्य न हो या जंचता न हो तो अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता हो तो वह वाल्लभ संप्रदाय, संप्रदाय न रह कर कोई आधुनिक सम्प्रदाय ही सिद्ध होता है.

उदाहरणतया पाणिनिव्याकरणमें "**'वृद्धि:'=आदैच्**" - "**अदेङ्=गुण:**", "**आद् गुण:**" - "**वृद्धिरेचि**" (पा.सू.१।१।१-२, ६।१।८७-८८) इन चार सूत्रोंमें 'वृद्धि' और 'गुण'संज्ञाओंमें परस्पर उत्सर्ग-अपवादभाव न होनेपर भी आदेशप्रसंगमें वृद्धिको गुणादेशके अपवादतया सूत्रित किया गया है. अब कोइ अनपढ़ व्यक्ति "संज्ञामें जब परस्पर उत्सर्ग-अपवादरूपता नहीं तो आदेशमें कहांसे आ सकती है?" ऐसे निजी अर्धबोधवाली धारणाके आधारपर और दो-चार पूर्वजोंके लेखनमें भी 'सिद्धान्तेक्य' अशुद्ध प्रयोग देख कर स्वयं भी करने लगे और टोकनेपर ऐसी रिसर्चके डेटा प्रस्तुत कर दे कि किस पूर्वजने बहुत पहलेसे 'सिद्धान्तेक्य' प्रयोग किया है और वह पाणिनिके वचनसे विपरीत भी अगर हो तो व्याकरणशास्त्रके नियमोंका अपवाद है! तो हो तो हो परन्तु पाणिनिके व्याकरणशास्त्रमें उसे अपवाद न मान अपशब्द ही माना जायेगा, चाहे जितने भी पाणिनिव्याकरणके विद्वानोंद्वारा प्रमादवश या दु:साहसवश भूतकालमें क्यों न किया गया हो! ऐसे अपशब्दप्रयोगका समर्थन जबतक कोई "सिद्धान्तेक्यं मत्पूर्वजलेखप्रामाण्यात्" ऐसे सूत्रोंवाला नया व्याकरण न लिख कर दिखलाये तब तक!

अतएव स्वयं पाणिनिके भी स्वनियमोंसे विरुद्ध प्रयोगोंको व्याकरणशास्त्रमे अनुसरा नहीं गया. इसके कुछ उदाहरण ऐसे दिये हैं "**भूवादयो धातव:**", "**जनिकर्तु: प्रकृति:**" (पा.सू.१।३।१, १।४।३०) टीकाकारोंकी कितनी क्लिष्टकल्पना करनी पड़ी है! क्योंकि स्वयं पाणिनिके अनुसार

शुद्धप्रयोग 'भ्वादयो' होना चाहिये था जैसाकि पाणिनिके सन्धिनियमोंका अनुसरण करनेवाले करते ही हैं. अब 'भू'धातु ही नहीं अपितु धातुपाठार्थ विभक्त गणोंके भी संग्रहार्थ 'भू' और 'वा' दो धातुओंका उपलक्षणतया अग्रिम निर्देश करनेको 'भूवादयो' प्रयोग मानें, तब भी उचिततर तो 'भ्वदादयो' प्रयोग ही होता. अतएव सिद्धान्तकौमुदीकार आदि सभी 'भ्वादि'प्रयोग ही करते हैं अपवाद मान कर 'भूवादि' नहीं. द्वितीय सूत्रमें भी ''डुकृञ्'=करणे''की तरह ''जनिः'=प्रादुर्भावे'' धातुओंकी संज्ञा हैं नकि धातुपदवाच्य अर्थरूपा करण या जनन क्रिया. अब संज्ञाकर्ता तो स्वयं पाणिनि है सो पाणिनिकी प्रकृतिरूपा उनकी माता दाक्षीकी अथवा उनके देहघटक पञ्चमहाभूतोंकी अपवादतया 'अपादान'संज्ञा मान कर ब्रह्म आदि जैसे पदार्थोंको अपादान नहीं मानना? ऐसा तो व्याकरणके अर्धबोधके आधारपर ही निर्धारण हो सकता है. नियोगानुयोगानर्ह मुनिके प्रयोग नहीं, वचनोंको ही प्रमाण मान कर साधुप्रयोग और अपशब्द का विवेक किया जाता है. अतएव कुमारिल भट्टको कहना पड़ा कि **''सूत्रवार्तिकभाष्येषु दृश्यते च अपशब्दनम्''** (तं.वा.१।३।२४).

अतः लोकमें उत्सर्गनियम और उसके अपवाद/अपवादनियम या तो वस्तुतंत्र या लौकिक शास्त्रोंकी व्यवस्थाके आधीन होते हैं. परन्तु औत्सर्गिक/आपवादिक तथ्य, घटना या कर्तव्यों के शास्त्रीय स्वरूपका इदमित्थं निर्धारण शास्त्रीय वचनोंके आधारपर ही होता है.

अतएव भागवतकारको कहना पड़ा **''धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः ईश्वराणां च साहसं तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा, ईश्वराणां वचः सत्यं तथैव आचरितं क्वचिद् नैतत् समाचरेद् जातु मनसापि हि अनीश्वरः, विनश्यति आचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रो अब्धिजं विषम्''** (भाग.पुरा.१०।३३।३०-३२). खुदकी या बड़ोंकी विधिसे विरुद्ध मनघड़ंत बातोंको अपवाद नहीं माना जा सकता. इस ध्रुव सत्यको भलीभांति समझे बिना 'अपवाद-अपवाद'की रटन लगना खुदके आत्मघाती अज्ञानका ही केवल

प्रदर्शन है. क्योंकि ऐसी स्थितिमें तो वैष्णवोंके भीतर भी कोई ऐसे विचार और व्यवहार कर सकता है कि गुरुपदासीन व्यक्तिओंके पग छूना सिद्धान्त हो फिरभी अपवादतया उनके गालपर तमाचा भी लगा देना कोई विरुद्धाचरण नहीं है!

जैसे प्राचीन गोस्वामिबालक और भगवदीय भी, गुरुजनोंके आचरणमें स्खलन जहां पाते वहां अपवाद माननेके बजाय श्रद्धानिर्वाहार्थ कलियुगका समादरण मान लेते थे(द्र.१२०वच.३०). कलियुगके स्वरूप और प्रभाव की विवेचना स्वयं महाप्रभुने **''सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि पाषण्डप्रचुरे लोके... अहंकारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु लाभपूजार्थयत्नेषु...''** (कृष्णा.१-४) दिखलायी है. सो कलियुगके समादरका अर्थ धर्मनाश खलता पाषण्डप्रचुरता अहंकारविमूढता पापानुवर्तिता और लाभपूजार्थयत्नोंमें तत्परता ही है!!!

अतः वाल्लभ सम्प्रदायके सन्दर्भमें क्या-कैसे औत्सर्गिक सिद्धान्त होता है, क्या-कैसे आपवादिक सिद्धान्त होता है; और, क्या-कैसे अपसिद्धान्त होता है, उसका विवेक ही न हो तो हर मनपसन्द कल्पना या व्यवहार को अपवादमें खपाया नहीं जा सकता. जैसे वेदमें **''मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि''** वचनको उत्सर्गविधि माना गया है वैसे ही अपवादविधि **''अग्निषोमीयं पशुम् आलभेत''**, **''वायव्यं श्वेतम् आलभेत''** सदृश स्वयं वेदवचनोंके आधारपर ही अपवादतया यज्ञादिमें पशुहिंसा धर्म्य मानी गयी. अन्यथा तो निषिद्धाचरण ही. अर्थात् शास्त्रीय आचरणमें उत्सर्ग और अपवाद दोनोंका शास्त्रोक्त होना अपरिहार्य है. वह अर्धश्रद्धावश किये गये जिस-किसी आचरणको अपवादतया मान्य रखनेकी छूट नहीं है.

यों इस औपक्रमिक स्पष्टीकरणके बाद अब प्रतिज्ञात कर्तव्यको पूर्ण करनेके लिये यहां जिन-जिन मुद्दाओंकी चर्चा करनी है, उनमें

अगला मुद्दा (१)प्रकरण : वाल्लभ सम्प्रदायके सन्दर्भमें औत्सर्गिक सिद्धान्त, आपवादिक सिद्धान्त और अपसिद्धान्त के स्वरूप और प्रयोगान्विति की मीमांसा. (२)प्रकरण : इन अर्धश्रद्धा या अर्धबोध के कारण इन सिद्धान्तोंका अंगीकार और अब परित्याग कैसे किया जा रहा है, एक विचित्र वदतोव्याघात! (३)प्रकरण : सिद्धान्तपरित्यागको उचित ठहरानेको दिये जाते २४=प्रमाणाभासों का निरसन. (४)प्रकरण : उपसंहार.

इन विभागोंमें करना है. क्योंकि मुझे जो व्हॉट्स्-अप् सन्देश भेजा कि *''अभी तकके आपके श्रीजीविषयक प्रवचन मैंने सुने हैं किन्तु मेरे प्रश्ननको उत्तर पूरो नहीं आ रह्यो है''*. सो खुदने २४ प्रमाण और १० हेतु दिये हैं उनका अर्थ भी जो मन्दमति होनेके कारण पूरी तरहसे खुद समझ न पाये हों वह दूसरेकी बात कहांसे समझ पायेंगे!.

जैसी मतिमन्दता व्हॉट्स्-अपूमें उजागर हुयी है उसका विचार करनेपर यह समाधान भी कितना समझ पायेंगे यह समस्या तो है ही, फिरभी केवल कर्तव्यबुद्धिवश समाधान लिख देना मेरा नैतिक कर्तव्य है. इसे भलीभांति समझ कर इस समाधानपर प्रश्न आक्षेप या खुदके अविचारित प्रमाणोपन्यास अथवा हेत्वाभास को उपपन्न करना खुदका नैतिक उत्तरदायित्व है. इसमें सम्बन्धमें कौन बड़ा या कौन छोटा का कोई मुद्दा नहीं है. स्वमार्गीय जनताको बहकानेसे पहले स्वयं युक्तायुक्तका निर्धारण है. अस्तु.

——*

(१) वाल्लभ सम्प्रदायके सन्दर्भमें औत्सर्गिकसिद्धान्त, आपवादिकसिद्धान्त और अपसिद्धान्त के स्वरूप और प्रयोगान्विति की मीमांसा

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या माययेशोऽत्र लीलया॥(१०।३१।५५)
स्वात्मना स्वात्मनि स्वांशान् क्रीडति क्रीडयत्यपि।
कांश्चिद् जीवान् पुष्टिशक्त्या विद्ययैवेतरान् स्वयम्॥
अविद्यया प्रवाहस्थान् जीवान् वै कुर्वते नमः।
ततो हि मार्गत्रैविध्यं स्वीयाचार्यमते ध्रुवम्॥

'पुष्टिप्रवाहमर्यादा'ग्रन्थमें **''पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्पृथग् जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च, वक्ष्यामि सर्वसन्देहाः न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः... सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतम् इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः. मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपि च कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा''** (पु.प्र.म.८-१०) वचनमें मार्गभेद सर्गभेद और फलभेद मूलक तीन मार्ग समझाये हैं.

<u>प्रवाहमार्ग</u> :

इस प्रवाहमार्गके लिये जो 'इच्छामात्रेण'पद प्रयुक्त हुवा है वह **''आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि... सृष्टीच्छावशगो हरि... इच्छामात्रात् तिरोभावः... स कालः सकलोद्भवः क्रियाशक्तिप्रधानत्वाद् नित्यगः सकलाश्रयः... विधिषेधप्रकारेण यः क्रियाशक्तिरुद्गतः तत् कर्म प्रकटं तावद् यावत् फलसमापनं... इच्छामात्रप्रकटनं सर्वथा तत् तिरोहितं**

सर्ववस्त्वाश्रितं पश्चात् स्वभावो अयं हरेः तनुः''(त.दी.नि.२।९९-११३) इन दोनों ग्रन्थोंकी एकवाक्यता साधनेपर यह सिद्ध होता है कि यहां इस 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा'ग्रन्थमें जिस इच्छामात्रको प्रवाहसर्गके कारणतया महाप्रभु दरसाना चाहते हैं उस इच्छामात्रके अवान्तरव्यापाररूपेण त्रिविधमार्गकर्ता भगवान्ने काल-कर्म-स्वभावको प्रकट किया. अतः लोकमें काल-कर्म-स्वभावके नियम उत्सर्गरूप बन जाते हैं. अतः महाप्रभुके अनुसार इस प्रवाहमार्गके सर्ग=(जीवस्वरूप अंगभूतदेह और निज-अविद्याशक्तिद्वारा नियतक्रिया), तदनुरूप प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलव्यवस्था काल-कर्म-स्वभावके औत्सर्गिक नियमोंके अनुसार भगवान्ने प्रवर्तित की है. यह सृष्टिसे आरम्भ कर प्रलय पर्यन्त सतत प्रवहमाण रहनेकी भगवान्की पञ्चपर्वा अविद्याशक्तिद्वारा नियत होनेवाली लीलाप्रक्रिया है.

मर्यादामार्ग :

इस तरह स्वयंचालितसे सृष्टिप्रवाहमें स्वयंकी वाणीसे प्रवर्तित कुछ अपवादरूप नियमके विधानार्थ भगवान् वेदादिशास्त्रोंद्वारा आपवादिक नियम—**''लोके व्यवाया-ऽऽमिष-मद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोः नहि तत्र चोदना, व्यवस्थितिः तेषु विवाह-यज्ञ-सुराग्रहैर् आसु निवृत्तिर् इष्टा''** (भाग.पुरा.११।५।११) वचनमें शास्त्रीय मर्यादाके विधानोंका प्रयोजन आपवादिक नियमविधितया भागवतमें स्वीकारा गया है. अतएव महाप्रभुका **''वचसा वेदमार्गं हि''** (यथोक्त) मानसेच्छामात्रनियत औत्सर्गिक प्रवाहव्यवस्थाके अपवादतया वाचनिक विधिनिषेधगोचर मर्यादाव्यवस्थाकी स्थापना सिद्ध होती है. यह महाप्रभुके अनुसार इस मर्यादामार्गके सर्ग=(जीवस्वरूप तदंगभूतदेह और तदनुकूल निज विद्याशक्तिद्वारा नियतक्रिया), तदनुरूप प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलव्यवस्था वेदादिशास्त्रोंके आपवादिक नियमोंके अनुसार भगवान्ने प्रवर्तित की है. यह सृष्टिकी विद्यमानतामें भी अन्त होनेवाली प्रक्रिया है. अतएव महाप्रभु यहां **''अतएव इतरौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः''** (पु.प्र.म.११) पार्थक्य दिखलाते हैं. यह पञ्चपर्वा विद्याशक्तिद्वारा नियत होनेवाली लीलाप्रक्रिया है.

पुष्टिमार्ग :

इस निजवाणीद्वारा स्थापित मर्यादानियमोंके पुनः अपनी ही पुष्टिशक्तिद्वारा अपवादलीलाके निदर्शनतया पुष्टिसर्ग प्रकट किया. यह **''पुष्टिं कायेन निश्चयः... कायेन तु फलं पुष्टौ''** (वहीं ९-१०) महाप्रभुने स्पष्ट किया है. जैसे मर्यादामार्ग औत्सर्गिक काल-कर्म-स्वभावके परसामान्य नियमोंको नष्ट करके नहीं प्रत्युत उनके भीतर परापरसामान्य या विशेष नियमके तरह प्रकट किये गये हैं, वैसे ही अपनी वाणीसे स्थापित परापरसामान्य नियमोंको नष्ट करके नहीं प्रत्युत कुछ परसामान्य या विशेषतर नियमवाली पुष्टिशक्तिद्वारा नियत व्यवस्था है. इस सन्दर्भमें महाप्रभुके चारेक वचन सावधानतया निरतिशय मननीय हैं :

१.**''कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावाद् निरूपितः देवगुह्यत्वसिद्धयर्थं नामध्यानार्चनादिकं पुरस्कृत्य हरेः वीर्यं नामादिषु निरूप्यते''**

(त.दी.नि.३।६।२-३).

२.**''अनेन प्रवाहं मर्यादां च स्थिरीकृतवान्... पुष्टिमार्गमपि तावत् स्थिरीकरोति... अनेन पुष्टिमार्गप्रवृत्तिः प्रवाहेण मर्यादाभंगएव इति सूचितम्. स चेत् पुष्टिमार्गो मर्यादां यथास्थानस्थितां न कुर्यात्, प्रवाहवत्, तस्यापि बाधकत्वमेव स्यात्''**

(सुबो.३।३।१६-१७).

३.**''लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु न अन्यथा वैष्णवत्वं हि सहजं ततो अन्यत्र विपर्ययः''**

(पु.प्र.म.२०-२१)..

४.**''लौकिक-वैदिकमार्गापेक्षया पुष्टिमार्गः उत्कृष्टः''**

(सुबो.१।१८।१३).

यहां प्रथम वचनमें पुष्टिशक्तिद्वारा भगवान् अपनी काल-कर्म-स्वभाव रूपिणी शक्तिओंका जो बाध करते हैं, वह असाधारण सामर्थ्य साक्षात् प्रभुकी ही दिखलायी गयी है. अथवा भगवदिच्छया कभी-कभाक किसी जीवमें भी वह, आवेशावतारन्यायेन, प्रकट हो सकती है, सभीमें नहीं. यदि जीवोंमें पुष्टिमार्गीय होनेके कारण कालादिबाधिका शक्ति नियततया प्रकट होती ही होती तो महाप्रभु **''यदा बहिर्मुखाः यूयं भविष्यथ कथञ्चन तदा कालप्रवहास्थाः देहचित्तादयोऽपि उत सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान् इति मतिः मम''** (शिक्षाश्लो.१) आज्ञा कदापि नहीं करते. भगवान् अपनी इस पुष्टिशक्तिको देवगणों या दैवी जीवों से छिपाये रखनेको निजवाणीसे विहित नाम-ध्यान-अर्चन आदिको व्याज बना लेते हैं. यह दिखलाया गया है.

द्वितीय वचनमें प्रवाह मर्यादा और पुष्टि तीनों ही मार्गोंके सर्जक पालक और प्रलापक भगवान् ही रहते हैं. इसे पाणिनिकी अष्टाध्यायीके **''पूर्वत्रासिद्धं=सपादसप्ताध्यार्यी प्रति त्रिपादी असिद्धा त्रिपादी प्रति पूर्वं प्रति परशास्त्रम् असिद्धं स्यात्''** (पा.सू.८।२।१ / सि.कौ.सं.प्र.) की तरह पूर्वनियमके प्रयोगावकाशमें परनियमकी अप्रसक्ति तथा परनियमकी पूर्वनियमोंके अपवादनियम होनेके उदाहरणतया समझना आवश्यक होता है. भूलना नहीं चाहिये कि तीनों ही तरहके सामान्यनियम और अपवादनियम स्वयं अष्टाध्यायीके द्वारा निर्धारित हैं. इसका विवेक समझे बिना अपवादका बहाना बना कर मनघड़न्त शब्दप्रयोग करने लगना अपवाद नहीं अपशब्द ही माना जाता है. अतएव आचार्यचरणने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रावाहिक नियमोंके अपवादतया प्रवर्तित मार्यादिक नियमोंका पुनः प्रावाहिक नियमोंसे प्रभु बाध न करें तो मर्यादाके नियम प्रभुकी पुष्टिशक्तिमें ही बाधा उपस्थित करने लगेंगे! अतएव प्रवाहमार्गीय नियम जैसे पुष्टिमार्गमें बाधक हो सकते हैं, वैसे ही मर्यादामार्गीय नियम भी. अतः प्रवाहनियमोंसे मर्यादानियमोंका बाध मर्यादाके विषयोंमें उन्हें सीमित बनानेके अर्थमें प्रयुक्त होता है नकि निःशेष बना देनेके अभिप्रायवश.

तीसरे वचनमें महाप्रभु यह खुलासा दे रहे हैं कि भगवान्के द्वारा निर्मित पुष्टिमार्गपर अवलम्बित होनेवाले पुष्टिसम्प्रदायमें वैष्णवोंको सहजतया वैष्णवताके निर्वाहकी ही चिन्ता करनी चाहिये. बाकि लौकिकता=प्रवाहनियम और वैदिकता=मर्यादानियम लोकवेदात्मक जगत्में स्थितिके हेतु जितने अपेक्षित हो उतने यथाकथञ्चित् निभाते रहने चाहिये. क्योंकि लोक जैसे प्रकृतिके सात्त्विक राजस एवं तामस गुणोंपर अवलम्बित है, वैसे ही वेदादिशास्त्र भी उन्हीं सात्त्विक राजस या तामस अधिकारियोंके लिये बनाये गये नियम हैं : **''त्रिभिः गुणमयैः भावैः एभिः सर्वम् इदं जगत् मोहितं न अभिजानाति माम् एभ्यः परम् अव्ययं, दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते''** , **''त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भव''** (भग.गीता.७।१३-१४,२।४५). भगवान् स्वयं जैसे त्रिगुणातीत हैं वैसे ही भगवद्विषयक ज्ञान-भक्ति भी त्रिगुणातीत हैं **''ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणो द्वयोरपि एकएव अर्थो 'भगवत्'-शब्दलक्षणः''** , **''मन्निष्ठं निर्गुणं मतम्''** (भाग.पुरा.३।३२।३२ , ११।२५।२४) अतएव स्वयं भगवान्में सन्निष्ठ होनेको भगवान्ने निजमुखसे आज्ञा प्रदान की.

चतुर्थ वचनमें देवगुह्य रहस्यरूप पुष्टिमार्गका जो उत्कर्ष प्रतिपादित किया है, वह इसी **''यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः''** (भग.गीता.१५।१८) वचनोक्त लोकवेदोत्तम पुरुषोत्तमपरक लोकवेदोत्तम अपवादरूप मार्ग होनेके अभिप्रायवश ही किया गया है.

भगवान्का त्रिगुणातीत होना एक सर्वभवनसामर्थ्यद्वारा अनुष्ठित लीला है पर जीवात्माका त्रिगुणात्मक बन्धनमें बंधे होना भी भगवान्की काल-कर्म-स्वभावात्मिका आविद्यकी नियति; अथवा इन गुणोंके सन्दर्भमें भगवान्की वेदादिशास्त्रनिर्धारित नियति है. इन अपनी दोनों तरहकी शक्तिओंके अपवादतया प्रकट पुष्टिशक्ति, जहां जब जिस प्रयोजनवश

जिस अधिकारिविशेषके लिये या भीतर प्रकट होती है, वहां पूर्वसिद्ध दोनों शक्तिओंसे नियत तत्त्व या कर्तव्य का बाध हो जाता है. इस रहस्यको देवताओंके समक्ष भी भगवान् प्रकट नहीं होने देते तो तुच्छ मनुष्यबुद्धिद्वारा उसका आकलन कैसे शक्य हो पायेगा!

स्वयं महाप्रभुने भी बहुधा शास्त्रप्रतिपादित होनेपर भी ऐसी पुष्टिशक्तिप्रयुक्त भक्तिकी आपवादिकी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा भगवदाज्ञाके बिना प्रदान करनेका साहस नहीं दिखलाया. यह सिद्धान्तरहस्यग्रन्थपर आपाततः दृष्टिपात करनेपर भी समझा जा सकता है. अतः अब पुष्टिसम्प्रदाय या वाल्लभ सम्प्रदाय में सिद्धान्त अपवाद और अपसिद्धान्त कहो या उत्सर्ग अपवाद और प्रतिषेध कहो के विमर्शार्थ अग्रसर हुवा जा सकता है.

<u>पुष्टिसम्प्रदाय=वाल्लभ सम्प्रदाय</u> :

इस प्रसंगमें आचार्यचरणके दो वचन कभी विस्मृत नहीं होने चाहिये :

१.''वक्ता स्वस्य तादृज्ज्ञानप्राप्तौ प्रकारम् आह— 'भगवच्छास्त्रम् आज्ञाय विचार्य च पुनःपुनः'इति अन्यथा अनाप्तत्वं स्यात्. भगवच्छास्त्रं भागवतं गीता पञ्चरात्रं च इति. तस्य सर्वतो ज्ञानं भगवत्कृपादिना इति शेषः. तथापि आपाततः प्रतिपन्नं न प्रमाणमिति विचारम् आह 'पुनःपुनः' निश्चयानन्तरमपि. ननु शतशोऽपि विचारितं जीवबुद्ध्या अप्रमाणं कदाचिद् भवतीति तदर्थम् आह 'यद् उक्तम्' इति. हरिणा सर्वदुःखहर्त्रा श्रीजगन्नाथेन पुरुषोत्तमस्थितेन मोहकसर्वशास्त्रोत्पत्त्यनन्तरं यद् निर्धारकं वाक्यम् उक्तं तदपि ज्ञात्वा इति... शास्त्रम् अवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः''

(त.दी.नि.प्र.१।३-४).

२.''श्रावणस्य अमले पक्षे एकादश्यां महानिशि साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तद् अक्षरशः उच्यते. ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः... न मन्तव्याः कथञ्चन अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेद्...''

(सि.र.१-४).

एतावता देखा जा सकता है भगवदाज्ञावश स्वयं अवतीर्ण हुवे होनेपर भी ऐसी घोषणाके बाद भी महाप्रभु शास्त्रार्थनिष्कर्ष तथा पुष्टिसम्प्रदायका प्रवर्तन स्वमनःकल्पित अपवाद मान कर नहीं प्रत्युत भगवदाज्ञप्त अपवाद मान कर ही प्रवर्तित करना चाहते हैं. यद्यपि शास्त्रोंके गम्भीर आलोचनद्वारा आपको **''कश्चिदेव हि भक्तो 'यो मद्भक्तः' इति ईरणात् सर्वत्र उत्कर्षकथनात् पुष्टिः अस्ति इति निश्चयः''** (पु.प्र.म.४) आनुमानिक निश्चय तो पूर्वसिद्ध है ही. अतः भगवदाज्ञाके बिना भी कालकर्मस्वभावसिद्ध प्रवाहमार्ग और वेदादिशास्त्रसिद्ध मर्यादामार्ग के अपवादतया पुष्टिमार्ग प्रवर्तित कर भी देते, तो स्वयं अथवा अन्य कोई परवर्ती व्याख्याकार, तत्त्व और कर्तव्य सम्बन्धी महाप्रभूक्त प्रत्येक सिद्धान्तको वेदादिशास्त्रोंसे समर्थित तो कर सकते थे. कहां तो महाप्रभुकी अपवादशास्त्रतया पुष्टिसम्प्रदायप्रवर्तनके बारेमें ऐसी अखण्डनिष्ठा और कहां आज हमारी मानसिक दुर्दशा कि देवगुह्य पुष्टिसिद्धान्तको शैवमतानुयायी उदयपुरराणाके आदेशवश प्रमाणित मानने लगना, अंग्रेज इतिहासविद् टॉड्के यात्रावृत्तान्तवश भी और आधुनिक धर्मनिरपेक्ष प्रशासकोंके आदेशवश भी! केवल निष्ठाह्रासका नग्नताण्डव!

यों भगवान्की औत्सर्गिकी लीला, आपवादिकी लीला और उस लीलाके भी पुनः अपवादार्थ की जाती पुष्टिलीलाके रूपमें जो भगवान्की भक्तोंके साथ प्रकट हुयी लीला, उसके कारण शास्त्रविहित भक्तिमार्गसे पृथक् एक स्वरूप प्रकट हुवा है, उसके आधारपर **''भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिः अस्ति इति निश्चयः''** (पु.प्र.म.२) यों निश्चित होनेके

बावजूद साक्षाद् भगवान्के मुखारविन्दकी आपवादिकी आज्ञा होनेपर महाप्रभुने पुष्टिभक्ति और पुष्टिप्रपत्ति मूलक सम्प्रदाय प्रवर्तित किया. मनघड़ंत प्रकारसे नहीं!

इतनी सावधानीसे प्रकट किये इस मार्गमें किसी भी तरह प्रमाण प्रमेय साधन या फल के स्वरूपके अनुरूप सावधानी बरते बिना किसी तथ्य घटना या कर्तव्य को अपवादके रूपमें बिरदाना भी खुदकी विचारशीलता(?!)के अपवादका प्रदर्शन लगता है. अतएव अपने मार्गानुसारी भक्ति या प्रपत्ति की प्रक्रियाके उपदेशारम्भमें ही महाप्रभु यह कह देना चुके नहीं है :

''मार्गो अयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितो यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः. प्रमाणादीनां चतुर्णामपि एकरूपत्वात् सर्वमार्गापेक्षया अयम् उत्तमो मार्गः. तथाहि : प्रमाणं भगवद्वाक्यं, वाक्येन प्रवृत्तः साधनम् असाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते. प्रमेयपरिज्ञानं च फलानुभवरूपम्. साधनं च फलादपि अधिकं, फलं च ज्ञानकर्मादिसाध्येभ्योऽपि अधिकम्. अतएव अस्मिन् मार्गे पातभयं नास्ति, प्रमाणप्रवृत्तिम् आरभ्य भगवतो रक्षकत्वात्. तत्र हेतुः 'मोचकः सर्वथा यतः'इति. स(कृष्णः) सर्वानेव ('नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः भगवतो नृप अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः' (भाग.पुरा.१०।२९।१४) येनकेनचित् (''कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते'' (१०।२९।१५) ''प्रकारेणापि प्रवर्तमानान् मोचयति, मोचकस्वभावत्वात्; तत्र स्ववाक्यानु गतान् कथं न मोचयेत्!... विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुद्ध्यते कल्पितैरेव बाधः स्याद् अवोचाम प्रमाणतां, सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य वै तस्य सर्वम् अशक्यं स्याद् मार्गे अस्मिन् सुतरापि कृपायुक्तस्य यथा सिद्ध्येत् कारणम् उच्यते. न अत्र

श्रुतिस्मृतिविरुद्धाचारो नापि प्रमेयं वेदविरुद्धम्... तत्र आदितः साधनानि आह योहि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं न कुर्यादिति सेवापरो गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति. सेवाच प्रमाणमूलै व पुरुषार्थपर्यवसायिनी, अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः...''

(त.दी.नि.प्र.२।२२२-२२७).

यहां देखा जा सकता है कि प्रमाणमूलक न हो ऐसी कृष्णसेवाके भी फलपर्यवसायी होनेकी सम्भावना महाप्रभु ठुकरा रहे हैं. अतः सिद्ध हो जाता है कि पुष्टिभक्ति हो या पुष्टिप्रपत्ति हो दोनोंमेंसे किसीके भी वाल्लभ सम्प्रदायमें मनघड़ंत यद्तद्वा प्रकारको अपवादतया मान्य नहीं किया जा सकता.

अतएव **''सेवाकृतेः गुरोः आज्ञा बाधनं हरीच्छया''**, **''विशेषतः चेद् आज्ञा स्याद् अन्तःकरणगोचरः तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकाद्''** (नव.७ वि.धै.आ.३-४). इस सन्दर्भमें निरुपाधिकभाव और शान्तचित्तसे समझने लायक बात तो यही है कि विशेषाज्ञारूपा या गुरु-आज्ञाबाधनरूपा जो विशेषगतिकी छूट दी वह, जिस विशेष अधिकारीको, जिस विशेष देश-कालमें, जिस विशेषप्रयोजनवश, भगवदाज्ञा हुयी हो उस विशेष अधिकारीको उस विशेष देश-कालमें उस विशेषप्रयोजनवश करनेकी छूट होती है. अन्योंको अन्यदेश-कालमें अन्यप्रयोजनवश उसे करनेकी छूट नहीं. क्योंकि हम सर्वाधिकारक मान लेंगे तो भगवद्गीता तथा भागवत दोनोंमें ही **''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः''**, **''ते नाधीत श्रुतिगणाः नोपासीतमहत्तमाः... केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगाः मृगाः ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः माम् ईयुः अञ्जसा... मत्कामा रमणं जारम् अस्वरूपविदो अबला ब्रह्म मां परमं प्रापुः... तस्मात् त्वम् उद्धव!**

उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्याः हि अकुतोभयः'' (भग.गीता.१८।६४, भाग.पुरा.११।१२।१-१५) सर्वधर्मपरित्यागमें तो, नामशः, माहात्म्यज्ञानके प्राप्तिके हेतु गुरूपसत्ति, शास्त्रीय विधिनिषेधोंकी परवाह, नामदीक्षा आत्मनिवेदनदीक्षा माहात्म्यज्ञान आदि कोई साम्प्रदायिक नियम अपरिहार्य नहीं रह जाने चाहिये थे, सर्वत्र उन्हें औत्सर्गिक नियम मान कर भगवदुपदिष्ट अपवादविधिसे बाधनं वा हरीच्छाके कल्पमें धकेला जा सकता होनेके कारण. **''गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः... भजेत्''**, **''स्वधर्माणां देहधर्माणां वर्णाश्रमाधिकारसिद्धानाम् आचरणं यथाशक्त्या कर्तव्यं नतु शक्तावपि संकोचः... यावद् देहाभिमानः तावद् वर्णाश्रमधर्मएव स्वधर्मो भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्माः वा''**(भ.व.२, सुबो.३।२८।२) इन वचनोंमें पुनः स्वधर्मका विधान भी वदतोव्याघात या उत्सर्गविधि क्यों नहीं मानी जा सकती?

उत्तर तो पुनः वही देना पड़ेगा कि जिस अधिकारीको जिस देश-कालमें जिस प्रयोजनवश ये अपवादविधि या अपवादप्रतिषेध प्रकट हुवें हैं वे हर स्थितिमें हरेकपर लागू नहीं होते.

अन्यथा तो अन्याश्रयके निषेधको भी उत्सर्ग मान कर अपवादतया अन्याश्रय और कृष्णाश्रय का समुच्चय भी क्यों शक्य नहीं माना जा सकता? यदि इस तरह उत्सर्ग और अपवाद शास्त्रोंका निर्धारण हो पाता हो तब तो २५२ वै.वा.में अन्यमार्गीने प्रभुचरणसे नामदीक्षा प्राप्त करनेके बावजूद श्मशानमें मुर्दा जलानेकी आगपर अपनी दालबाटी सेक कर जो खाई उसे भी अपवाद मान लेना चाहिये. क्योंकि स्वयं प्रभुचरणने ही उन्हें आज्ञा दी थी कि ''तोकों हम नाम दे सरनि लेइंगे फेरि तेरे मनमें आवे सो करियो हम तोकों कबहुं छोड़ेंगे नाहिं'' (२५२वै.वा.१६४).

इस रीतिको भी अपवादधर्म मान कर सबको पुष्टिसम्प्रदायमें

जो कुछ करना करनेकी छूट क्यों नहीं दी जाती? इससे सिद्ध होता है कि अपवादका यह सारा बवंडर किसी भी तरह सिद्धान्तबोधके बिना खड़ा किया गया है. ऐसे बुद्धिप्रयोगरहित अपवादकी समझके आधारपर तो स्वयं प्रभुचरणके **''तस्मात् श्रीवल्लभाख्य! त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति भ्रान्ताः ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धंतमोगाः''** (वल्लभा.३) वचनको भी उत्सर्गशास्त्र मान कर स्वयं महाप्रभुके **''अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा नरके न भवेत् पातः''** (त.दी.नि.२।२१६) वचनका अवलम्बन लेकर कहा जा सकता है कि पिता-पुत्रके उपदेशोंमें एकवाक्यता न होनेके कारण उत्सर्गतः नरकपात होता होगा परन्तु अपवादतः वेदनिन्दा करनेपर भी नरकपात न होता हो तो वेदमूलक आचार्यवाणीकी भी निन्दा करनेसे नरकपात शक्य नहीं! अतः सारे के सारे आचार्यवाणीद्वारा मिलते उपदेश और प्रभुचरणकी वाणीद्वारा मिलते उपदेश भी कोरी गप्प हैं, ऐसी आचार्यनिन्दा भी अपवादतया क्यों शक्य नहीं? धन्य हो अपवादपरायण प्रभु!

अस्तु, ऐसे अज्ञानके निरसनार्थ वाल्लभ सम्प्रदायके सन्दर्भमें औत्सर्गिक सिद्धान्त, आपवादिक सिद्धान्त और अपसिद्धान्त के स्वरूप और प्रयोगान्विति की मीमांसाके बाद, इन अर्धश्रद्धा या अर्धबोध के कारण इन सिद्धान्तोंका अंगीकार और परित्याग कैसे किया जा रहा है, ऐसे वदतोव्याघातका स्वरूप दरसाना अब प्रासंगिक होगा.

——*

(२)अर्धश्रद्धा या अर्धबोध के कारण इन सिद्धान्तोंका अंगीकार और परित्याग कैसे किया जा रहा है एक विचित्र वदतोव्याघात!

पूर्व प्रकरणमें हम देख चुके कि समग्र सृष्टि ही एक भगवल्लीला होनेके कारण पुष्टिशक्तिद्वारा पुष्टिमार्ग, विद्याशक्तिद्वारा मर्यादामार्ग; और, अविद्याशक्तिद्वारा प्रवाहमार्ग, यों तीनों ही स्वयं भगवान्‌के द्वारा प्रादुर्भावित प्रस्थापित और प्रलापित होते हैं. शक्तिमान् कर्ता, उसकी अनवगाह्य शक्तियां और शक्यकार्य तीनोंके ब्रह्मात्मक होनेमें तो संशयका लेश भी नहीं. कब कहां किसके भीतर, किन्तु, पुष्टि विद्या या अविद्या मेंसे कौन सी शक्ति अपना कर्तुम् अकर्तुं या अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य होनेका स्वरूप प्रकट करती हैं, वह तो गूढ ब्राह्मिक रहस्य है. परन्तु महाप्रभुने स्वयं इस विषयमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है : **"परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानन्तु मार्गरुच्या निश्चीयते"** (त.दी.नि.प्र.२।२२६) सो इसे उपलक्षण मान कर चलें तो केवल पुष्टिमार्ग ही नहीं, अपितु अन्य दोनों मार्गोंमें किये गये वरणके वास्ते भी यही माना जा सकता है. भगवान्‌ने किस जीवका, किस मार्गके हेतु वरण किया वह तो, उस जीवकी मार्गविशेषमें रुचिके आधारपर ही निर्धारित हो पाता है. अन्य कोई उपाय नहीं. अतः किसी जीवका प्रभुने पुष्टिमार्गमें वरण न किया हो तो आचार्यचरणोपदिष्टमें सिद्धान्तमें उस जीवकी अर्धश्रद्धा अर्धरुचि या अर्धांगीकृति निश्चय ही स्वपरव्यामोहिका तो सिद्ध होंगी ही. ऐसे व्यामोहके निरसनार्थ यह विमर्श भी, अतएव, अनुपयुक्त नहीं लगता है. अन्यथा भगवद्‌वचन **"मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च"** (भग.गीता.१५।१५) में अविश्वासका तो कोई कारण हो ही नही सकता है.

वैसे भी वदतोव्याघात तार्किक जगत्‌में एक गम्भीर दोष होनेपर भी विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मकी लीलामें — साकार/निराकार परिच्छिन्न/अपरिच्छिन्न जड़/जीव आनन्द/निरानन्द पुण्य/पाप स्वर्ग/नरक दैव/आसुर विद्या/अविद्या या बन्ध/मोक्ष जैसे — परस्परव्याघातक धर्मोंका अंगीकार वदतोव्याघातरूप माना नहीं जाता, **"नहि विरोध उभयं भगवति अपरिगणितगुणगणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये"** (भाग.पुरा.६।९।३६)न्यायेन. फिरभी वाल्लभ दर्शन भागवतावलम्बी होनेके कारण यद्यपि भगवान्‌में ऐसे धर्मोंकी इतरेतरविरुद्धता न मानता होनेपर भी भगवत्प्रादुर्भावित सृष्टिमें तो उनकी विरुद्धता निश्चयेन स्वीकारता ही है; और दोषरूपता भी : **"अन्यथाप्रतिभानं यद् उच्चनीचादिभेदतः तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः. यत् किञ्चिद् दूषणन्तु अत्र दूष्यञ्चापि हरिः स्वयं विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव (ब्रह्मण्येव=जीवेषु न) शोभते"** (सुबो.२।९।३२). अतः वदतोव्याघात दोष हमारे प्रतिपादनोंमें मिलता हो तो व्यवहारमें उसे भगवल्लीला न मान कर दोषतया ही निरूपित करना कोई अपराध नहीं. अतएव अणुभाष्यकार भी **"किंबहुना! बाह्यवादो यथा-यथा विचार्यते तथा-तथा असम्बद्धएवेति अलं विस्तरेण. चकाराद् वेदविरोधो मुख्यः"** (अणुभा.२।२।३२) भाष्यकार ऐसा तो नहीं कहते हैं कि सम्प्रति प्रत्येक धर्मानुष्ठानके संकल्पमें "विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः भगवतो महापुरुषस्य विष्णोः आज्ञया प्रवर्तमानस्य... बौद्धावतारे" बोल कर ही धर्मानुष्ठान सम्पन्न करनेका बड़ोंका आचार होनेसे सामान्यतया वेदादिशास्त्रोंके वचनोंके प्रामाण्यकी तरह अपवादतया बुद्धवचनोंका भी प्रामाण्य अवश्य स्वीकारना चाहिये. जयन्तीके दिनोंमें भी दशावतारवाली अष्टपदीके अन्तर्गत **"केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे!"** गाया जाता होनेके कारण भी! फिरतो पुष्टिमार्गीय कीर्तन और ग्रन्थोंपर प्रवचन की भी क्या आवश्यकता है? बौद्धागमोंपर क्यों नहीं, अपवादतया!

इस प्रकरणको, अतः, दो अंशोमें विभक्त कर लिखना अधिक उपयुक्त लगता है :

(क)स्वमार्गीय ग्रन्थोंके अध्ययनकालके विधानोंके विमर्शके रूपमें

और

(ख)हालमें स्वतन्त्रतया गहरी रिसर्च(?!) के बाद जो विधान किये जा रहे हैं, उनके विमर्शके रूपमें.

क्योंकि विभिन्न दो अवस्था और काल में प्रकट किये गये अविचारित विधानोंका पृथक्तया विमर्श करनेपर ही निरनुयोज्यानुयोगकी आपत्तिसे बचा जा सकेगा. क्योंकि शक्य है कि आज नहीं तो आगामी कालमें अन्यथा अध्यापित होनेके कारण ऐसा वदतोव्याघात हो गया, ऐसा समाधान भी कुशकाशावलम्बनार्थ खोज लिया जायेगा!

(क-अंश) :

१.सर्वप्रथम दिनांक ६-१०-८६ को अनेक गोस्वामिबालकोंकी सभामें 'संयुक्तघोषणापत्र' पर सह-हस्ताक्षरी हो कर, क्या घोषित किया गया था, यह देख लेना उचित होगा. क्योंकि उस संयुक्तघोषणापत्रका प्रारम्भ ही नाथद्वाराके विवादमें सर्वोच्च न्यायालयके निर्णय (२२वें अनुच्छेद एस.सी.आर.५६१,१९६४)के सन्दर्भमें हुवा था.

अब, परन्तु, यह कहा जा रहा है कि उस वख्त इस बारेमें कोई मुद्दा न था. यह तो बादमें खड़ा किया गया है. खैर, नाथद्वाराका देवालय सार्वजनिक है या पारिवारिक इस विवादके सन्दर्भमें सर्वो.न्याया.के निर्णयमें यह कहा गया कि ''सार्वजनिक देवालय वाल्लभ सम्प्रदायमें निषिद्ध प्रकार नहीं है और न यह गोस्वामितिलकायित महाराजकी कोई निजी सम्पत्ति है''. यदि इस निर्णयको अब हम वल्लभवंशज ही प्रमाण मानने लग जायें तो सभी गोस्वामिओंके घरोंमें होती भगवत्सेवाको

भी आज नहीं तो कल सार्वजनिक देवालय घोषित क्यों नहीं किया जा सकता? ऐसी स्थितिमें तो व्हॉट्स्-इन ज़ीरो और व्हॉट्स्-अप इनफाइनाईट के ठाकुरजी भी क्यों समेटे नहीं जा सकेंगे! क्योंकि वल्लभवाणी नहीं न्यायालयवाणी को स्वयं वल्लभवंशज प्रमाण मानने लगे हैं! खैर, सर्वो.न्याय.निर्ण.के अनुच्छेद(६१)में यह भी स्वीकारा गया है कि न्यायालयके सामने ऐसे कोई सिद्धान्त प्रस्तुत ही नहीं किये गये. अतः न तो उत्सर्गरूप और न अपवादरूप ही, किसी भी तरहके सिद्धान्तके आधारपर प्रस्तुत निर्णय नहीं लिया गया था. यह निर्णय तो सन् १९३४ में उदयपुरके महाराणाद्वारा घोषित एक फरमानको तथ्यात्मक आधार मान कर लिया गया था. प्रमुखतया इसी एक फरमानके कारण सार्वजनिक घोषित कर दिया गया. इसे भी व्हॉट्स्-इन् ज़ीरो और व्हॉट्स्-अप् इनफाइनाइट् पर प्रमाणतया मान्य रखा गया है! जबकि हकीकत यह है कि सन् ३४के बाद सन् ४१के फरमानमें खुद महाराणाने (आदे.सं.१०९९८ दि.२-९-४१में) तदावर्तमान गो.ति.म.को ही सम्पूर्ण नाथद्वाराकी जागीरका मालिक माना था. यह फरमान सर्वो.न्याया.में प्रस्तुत पेपरबुकमें प्रकाशित भी है ही. जिरहके समय, परन्तु, या तो इस फरमानपर न्यायाधीशका ध्यान आकृष्ट नहीं किया होगा. अथवा तो न्यायाधीशने सार्वजनिक देवालय घोषित करनेकी मान्यता रूढ़ बना ली होगी. क्योंकि इस दावेसे पहले स्वयं गो.ति.म.ने स्वेच्छया मासिक रु. ३०००/-की एवजमें श्रीनाथजी और श्रीनवनीतप्रियाजी सरकारको सोंप देनेका समझोता किया था! जिसके विरुद्ध सम्प्रदायके अन्य महानुभावोंने राजस्थान उच्चन्यायालयमें अपील कर कॅस जीता था कि न तो तिलकायतको और न सरकार को ही इसे सार्वजनिक घोषित करनेका अधिकार है. यदि धार्मिक सम्प्रदायके सिद्धान्त अपवाद या अपसिद्धान्त के निर्धारणार्थ आधुनिक न्यायनिर्णयोंका अधिक प्रामाण्य हो तो इसे क्यों प्रमाण नहीं मानते? सम्प्रदायमें भी लौकिक अधिकारोंके बारेमें लौकिक न्यायालयोंके निर्णयको अप्रमाण नहीं माना जा सकता परन्तु धार्मिक तथ्य या कर्तव्य या अधिकारिता के बारेमें धर्मग्रन्थोंका

ही प्रामाण्य होता है. अतः ऐसी स्थितिमें तो यह अपवाद सिद्ध न हो कर वल्लभवंशज गोस्वामिओंकी संयुक्त-परिवारका अविभक्त अधिकार सिद्ध हो जायेगा! ऐसी स्थितिमें आरंभसे ही सार्वजनिक देवालयस्थ स्वरूपकी तथाकल्पित 'देवोद्धारकता', वस्तुतः तो सर्वोद्धारकता कहनी चाहिये थी अन्यथा पारिवारिक गृहस्थित स्वरूपकी असुरोद्धारकता ध्वनित होगी!, अतः सर्वोद्धारकता इस स्वरूपकी निरस्त हो जायेगी. और अपनी मन्दमतिकी स्वयंप्रमाणित रिसर्च भी अप्राणिक सिद्ध होगी. इस सरकारको स्वेच्छया श्रीनाथजी और श्रीनवनीतप्रियाजी सोंप देनेके समझोतेकी फॉटोकॉपी स्वयं गो.श्री.ति.म.के हस्ताक्षरोंके साथ मेरे 'आधुनिक न्यायप्रणाली...' ग्रन्थके मुखपृष्ठपर प्रकाशित है. सो देखी जा सकती है.

मगर सर्वो.न्याया.का सोचना कुछ ऐसा था कि यदि सार्वजनिक न होनेका इस सम्प्रदायमें कोई सिद्धान्त होता तो मूलतः सोंपना नहीं चाहिये था और यदि स्वेच्छया सम्प्रदायकी प्रधानपीठने ही सोंप दिया हो तो सरकारद्वारा उसे सार्वजनिक घोषित कर देना, वल्लभसम्प्रदायके सिद्धान्तसे विरुद्ध कैसे होगा! इन हेतुओंके कारण सर्वो.न्याया.ने नाथद्वाराका स्वरूप हिन्दुसार्वजनिक देवालय या पुष्टिमार्गीयसार्वजनिक देवालय या पारिवारिक देवालय होनेके मुद्देपर वाल्लभ सिद्धान्तोंका विमर्श करना अनावश्यक ही माना था : "It was held that neither tenets nor the religious practice of the Vallabh School necessarily postulate that the followers of the denomination must worship in a private temple" (AIR 1987 SC 2064 CA NO.2041 of 1973, D/-11-8-1987) .

अब इस न्यायनिर्णयका प्रमाणतया सहारा कौन ले रहा है देखो "In pushtimarg as prescribed by sree acharyaji, worship of Lord in public temple(in today's term haveli) is not allowed even on non-commercial terms except sreenathji

temple" (posted whats-up to me) अब खुद खुदके व्हॉट्स्-अपको प्रमाण मानते हों तो प्रमाणतया उद्धृत सर्वो.न्याया.निर्ण. अप्रमाणित हो रहा है, क्योंकि वहां तो वल्लभसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्तके बारेमें कहा जा रहा है. उसे प्रमाण मानना हो तो खुदके वचन अप्रमाणित हो रहे हैं! बलिहारी जाऊं ऐसे सिद्धान्तोपदेशककी! व्हॉट्स्-अप् पर यह शगूफा छोड़ा जा रहा है कि यह पुष्टिमार्गमें अपवादतया सार्वजनिक देवालय होनेका प्रमाण है! जबकि सर्वो.न्याया.ने अपवादतया नहीं किन्तु सुस्पष्ट शब्दोंमें वाल्लभ संप्रदायके सिद्धान्तके बारेमें निर्णय दिया है. यही तो व्हॉट्स्-इन् ज़ीरोका कमाल है कि इस न्यायनिर्णयको व्हॉट्स्-अपमें अपवादके प्रमाणतया स्वीकार लिया है! मेरे द्वारा इस विधानको 'आत्मघाति' कहे जानेपर आत्मकल्याणका विश्वास और व्हॉट्स्-अप् पर अपलोड् कर दिया! तो अक्कल तो चलानी चाहिये थी कि न्यायनिर्णय सिद्धान्तोंके आधारपर न लिया हो और तथ्योंके आधारपर लिया गया हो तो उसके आधारपर पुष्टिमार्गमें कुछ भी सामान्यसिद्धान्त है या अपवादसिद्धान्त यह कैसे सिद्ध हो पायेगा!

अस्तु, इसके बाद इस घोषणापत्रमें 'सिद्धान्तवचनावली'के बहुत सारे वचन भी उद्धृत किये गये थे. इनमें सेवास्थलका सिद्धान्ततः निजगृह होना, सेवाकर्ताका सिद्धान्ततः देवद्रव्योपजीवी न होना, स्वगृहमें निजसेव्यकी सेवामें स्वतनुवित्तपरिजनके विनियोगकी प्रमुखता होनी आदि-आदि सैद्धान्तिक अनिवार्यता घोषित की गयी थी. इन्हें सुन कर सभीने अपने-अपने हस्ताक्षरोंसे, उसे स्वसिद्धान्तास्थावश हो तो मंडित; अन्यथा हो तो, कलुषित भी किया ही था!

अब, परन्तु, वह भी लगता है कि मिथ्याबोधवश हो गया होगा कहना पड़ेगा. अन्यथा सर्वो.न्याया.के निर्णयको अब इतने वर्षोंके बाद अकस्मात् उचित क्यों ठहराया जा रहा है?

क्योंकि इसपर स्वयंके हस्ताक्षर अपने पितृचरणकी उपस्थितिमें किये थे वह घोषणापत्र भी प्रकाशित है ही.

२.शपथपत्र, जिनपर गोस्वामिबालकोंके हस्ताक्षर सबसे पहले किये गये थे, उनमें तीसरे नंबरके हस्ताक्षर स्वयंके हैं. वहां महाप्रभुका नाम लेकर शपथ ली थी कि "जिन सार्वजनिक मन्दिरोंमें, श्रीमहाप्रभुके सिद्धान्तसे विपरीत, देवद्रव्य; अथवा, गैरब्रह्मसम्बन्धी दर्शनार्थिओंके द्रव्यसे भोगसामग्री धरी जाती हो वह श्रीपुष्टिप्रभु आरोगते ही नहीं है. अत: वह प्रसाद ही नहीं होता, प्रत्युत सब प्रकारसे पातित्यकारी ही होता है. अत: वह हम अब कभी लेंगे नहीं" (शप.प. पृ.५). अब, परन्तु, कर्णोपकर्ण यह भी सुनाई दिया कि स्वयं वैष्णवोंको बुला कर "अपवादतया देवद्रव्य होता नहीं है" कह कर बांटना भी चाहा! जब बेचारी एक वैष्णवने अस्वीकार किया तो कहा "ले तो जाओ, तुमको न लेना हो तो और किसीको दे देना!" अत: अब सहज सम्भव है कि यह भी कहना पड़ेगा शपथपत्रपर हस्ताक्षर अज्ञानवश कर दिये थे. क्योंकि तब रिसर्च(?!) हो नहीं पायी थी.

३.इसके बाद पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२, पार्ले,मुंबई) के आमंत्रणके स्वरूपको निहार लेना भी उचित होगा. वैसे कहनेको तो यहां भी एक बहाना निकाला जा सकेगा अकारण ही इनके नामसे यह आमंत्रण संवादस्थापक मंडलीने प्रकाशित करवा दिया था. परन्तु उसके प्रति अपना विरोध तब प्रकट न करके अब करनेपर कितने लोगोंको स्वीकार्य होगा? अस्तु :

मुंबई समाचार सोमवार ता.१८-११-९१

॥ विजयते श्रीवल्लभो महाप्रभुः ॥

पुष्टिमार्गीओने जाहेर आमन्त्रण

...आपणा संप्रदायमां भगवत्सेवा ए जाहेर अनुष्ठान होई शकतुं नथी अथवा तो तेम करवाथी कोई पण जातनो सैद्धान्तिक बाध थतो नथी" आ बाबते सर्वे पुष्टिमार्गीओ एकत्र थईने कंईक सैद्धान्तिक निष्कर्ष लावी शके तेमज विसंवादनो अन्त आवे ते अंगे एक सद्भावपूर्ण चर्चासभा... आयोजित करवामां आवी छे.

आमंत्रक

०००००

(च.स.वि.वि. पृ.३३८)

एतावता सिद्ध होता है कि तब विचारणीय वैकल्पिक मुद्दे इतरेतरविरुद्ध केवल दो ही थे : एक सिद्धान्त और दूसरा अपसिद्धान्त. अर्थात् अभी तक अपवाद मान कर छटक जानेकी आवश्यकता खड़ी नहीं हुयी थी. इसे भी सम्भवत: अन्यथाध्यापित होनेके दुष्परिणामरूप अन्तमें कभी न कभी ठहराना ही पड़ेगा!

४.भरुचकी पुष्टि-अस्मितासंवर्धक शिबिरमें जो बात कही थी चलो उसे भी ध्यानसे पढ़ लें! उस शिबिरके विवरणतया प्रकाशित ग्रन्थमें तो अद्भुत परोपदेशपाण्डित्यपूर्ण विधान उपलब्ध होता है :

"आचार्यचरणका प्राकट्य भी हकीकतमें तो इसीलिये हुवा है कि ठाकुरजीका माहात्म्य हम जो भूल गये हैं, उसे याद दिलाने. अत: सर्वोत्तमजीमें श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं कि "दयया निजमाहात्म्यम्" दया आयी. ठाकुरजीकी कृपा हुयी और उसके कारण खुदके वाणीस्वरूप श्रीआचार्यचरणरूपेण प्रकट होना है. आपने वाणी स्वरूपको

ही क्यों प्रकट किया? कारण कि ठाकुरजीकी इच्छा ही ऐसी है कि अनवतारकालमें खुदकी वाणीद्वारा जीवोंका उद्धार करना. इसलिये तो महाप्रभुजीका प्राकट्य हुवा है. तो हम तो वाणीसे दूर भाग रहे हैं और इच्छा ऐसी रखते हैं कि हमारा उद्धार (मेरे शब्द : अब वाणीसे नहीं परन्तु वाणीके अपवादसे होगा, क्योंकि वही देवोद्धारक है घरके ठाकुर तो शायद...!) ठाकुरजी करेंगे. सारी प्रॉसीजर ही रिवर्स् अपना ली है. कहांसे उद्धार होगा. वाणीसे उद्धार करना है तो वाणीसे दूर मत भागो. वाणीसे संलग्न रहो तो बहिर्मुखता अपने-आप दूर हो जायेगी''.

(भरु.शिबि.विव. पृ.११९-१२०)

इस शिबिरके विवरणमें प्रकाशित मेरे वक्तव्यमें, अन्यत्र दिये गये वक्तव्योंकी तरह, इस मुद्देकी चर्चा करते हुवे अपवाद होनेकी चर्चा छेड़ी थी. क्योंकि इस समस्याको सुलझाना हमारा सामुदायिक उत्तरदायित्व है. उसके अन्तर्गत विकल्पतया प्रस्तावित करनेको यह कहा था कि यातो महाप्रभु जैसी सिद्धान्तनिरपेक्ष भगवदाज्ञाके आधीन हो कर नाथद्वाराकी सेवाप्रणालीको अपुष्टिमार्गीय अर्थात् मर्यादामार्गीय स्वीकार लेनी चाहिये. अथवा पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तका अपवाद या भगवदिच्छया बाधन मान लेना चाहिये. ऐसा स्वीकारनेमें कोई संकोच होता हो तो अपसिद्धान्त भी माना जा सकता है.

कुब्जाके जारभावको, जैसे अनन्यभक्तिसे लभ्य होनेके पुष्टिसंप्रदायके सिद्धान्तके बाधद्वारा, भगवान्ने सन्तुष्ट किया. महाप्रभुने पुष्टिभक्तिके सिद्धान्तमें अपवाद न मान कर उसे **''सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह... भगवतो अद्भुतकर्मत्वम् अग्रे व्युत्पाद्यम् असाधनं साधनं करोति इत्यादि''** (त.दी.नि.प्र.१) कह कर स्वीकारा है. एतावता कामभावसे कृष्णभजन पुष्टिमार्गमें अपवादतया माना नहीं जा सकता. ऐसी लीलाके कारण

तो भगवान्के अद्भुतकर्मा होनेका माहात्म्य ही केवल सिद्ध होता है. क्योंकि पुष्टिमार्गका सिद्धान्त तो निरपवादतया निजगृहमें निष्काम भावात्मिका सेवाका ही है. अन्यत्र या अन्यथा की जाती सेवा पुष्टिमार्गीय सेवा ही नहीं होती.

एतावता हम वाल्लभ सम्प्रदायके अनुगामी अपुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूपकी अपुष्टिमार्गीय देवालयमें सेवा-पूजा नहीं कर सकते, ऐसा तो नहीं है. क्योंकि जगन्नाथपुरी तिरुपति बालाजी पांडुरंग द्वारकानाथ बद्रिनाथ आदि स्थलोंमें अपनी पुष्टिमार्गीयताको खोये बिना भी सेवा-पूजा तो कर ही सकते हैं, प्रसाद भी लेते ही हैं. श्रीगोपीनाथजी तो असाधारण धार्मिक औदार्य बरतते हुवे **''न अन्यदेवं व्रजेद् नैव प्रसक्तौहि अपमानयेत्, तीर्थेषु तीर्थदेवानां भूदेवानां समर्चनम्''** (साध.दीपि.६८) ऐसी आज्ञा भी स्पष्ट शब्दोंमें देते ही हैं. एतावता उन देवालयोंमें हमारे द्वारा किये जाते दर्शनार्चनप्रसादग्रहणको हम पुष्टिमार्गमें अपवादतया नहीं बिरदाने लगते, देहाभिमानमूलक लौकिक वैदिक धर्मोंका निर्वाह पुष्टिजीवोंको अवश्यकर्तव्यतया मान्य रखा गया होनेसे, देहाभिमानके निवृत्त न होनेतक. अतएव महाप्रभुने भी सर्वप्रथम तो छोटे मंदिरमें मर्यादामार्गविधिके विपरीत ब्राह्मणको सेवा सोंपने बजाय क्षत्रीय रामदास चौहानको सेवा सोंपी थी. बादमें पूरनमलको मन्दिरको समरानेकी आज्ञाके कारण, रामदासजीके भी रह न जानेके कारण और सदु पांडे आदिके सेवा करने तैयार न होनेके कारण भी अपुष्टिमार्गीय बंगालिओंको सेवार्थ अधिकृत किया गया, यह—

''हमारे ठाकुरको मन्दिर सिखरबंद धुजा-कलसको नाहिं नन्दरायजीके घरकी नांई करो'', ''तब श्रीआचार्यजी जाने जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगत्में पुजाय बहोत जीवनको उद्धार करेंगे. सो तासों देवालयकी रीति यहां(कहां? पुष्टिमार्गमें नहीं प्रत्युत श्रीनाथजीके बिराजवेके स्थलमें!**) राखनी**

उचित है... तब श्रीआचार्यजी आछो मुहरत देखि के श्रीगोवर्धनधरको मंदिरमें पधराये अक्षयतृतीयाके दिन'', ''तब सदु पांडेने कही 'राधाकृष्णकुंडपर बंगाली हैं कहो तो बुलाऊं? तब श्रीआचार्यजी कहे बुलावो''.

(८४ वै.वा.२४।१, ७३।१).

यद्यपि अधिकांश उत्सवनिर्णयोंमें 'श्रीगोवर्धनोद्धरणोत्सव' या 'श्रीगोवर्धनधरागमनोत्सव' कहा गया है परन्तु श्रीव्रजरायजी तो प्रभुचरणके घरमें पधारनेके उत्सवको 'श्रीगोवर्धननाथप्रादुर्भावोत्सव' ही कहते हैं. व्हॉट्स्-अप् पर एक रिसर्च लिखी है ''जा दिन सिंहाडमें श्रीजीको नयो मंदिर तैयार भयो और आपकु पाट बिठाये गये वो दिन भी फागुन वद ७ ही है जो योगानुयोग सतघराके प्रसंगको दिन ही आ गयो. यासु ही श्रीजी वहां आज भी याही दिन पाटोत्सव माने हैं वा पहले तो अक्षयतृतीयाको पाटोत्सव मनतो हतो''. श्रीजीका सिंहाड बिराजनेका काल और श्रीव्रजरायजीका काल एक ही है. अतः वे इस उत्सवको कैसे निहार रहे हैं यह देख लेना भी उचित होगा. परन्तु मान लो मनाया भी जाता हो तो महाप्रभुके पाटोत्सवको केंसल कैसे किया गया? किस ऑथोरिटीके आधारपर? और यदि केंसल ही किया तो कम से कम महाप्रभु द्वारा श्रीजीकी आज्ञाके विवश जो देवालयमर्यादा निश्चित हुयी थी वह भी योगानुयोग क्यों केंसल नहीं मानी जा सकती? ऐसी स्थितिमें श्रीदामोदरजीको भी या तो विशेष आज्ञा हुयी मानते हैं तो वह पुष्टिमार्गीय सिद्धान्ततया मान्य न हो कर वार्तावर्णित रजस्वलाको सेवामें नहानेकी आज्ञाकी तरह कोई विशेषगतिकी आज्ञा सिद्ध होगी. और बिना आज्ञाके ऐसा सिद्धान्तविपरीत प्रकार शुरु किया मानें तो वह अन्य पुष्टिमार्गीओंके लिये अनुसर्तव्य सिद्ध नहीं होगा.

अब 'अपवाद' के साथ 'पुष्टिमर्यादा' तूत भी खडा किया

है ''*श्रीनाथजीको सेवाक्रम सतघराके प्रसंगके पहले देवालयको है वह तो श्रीजीकी जगत्में पुजावयेकी आज्ञासु स्पष्ट है किन्तु मोकु ऐसो लगे है कि सतघरा प्रसंगके बादभी सेवाक्रम पुष्टिमर्यादा देवालयको है*''(१० विध हेत्वाभासोंकी प्रतिज्ञाके रूपमें).

इसका अर्थ क्या समझना? क्या यह मर्यादामें कोई पुष्टि है या पुष्टिमें कोई मर्यादा? पुष्टिमें मर्यादा तो 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा'(१२-१५)ग्रन्थके अनुसार अपवाद नहीं अवान्तर प्रभेद है. और मर्यादामें यदि पुष्टि मानते हैं तो वह पुनः मर्यादाका ही अवान्तर प्रभेद होगा. पुष्टिका अपवाद नहीं. हर स्थितिमें इसके बाद आचार्यचरणद्वारा प्रवर्तित पाटोत्सव निरस्त हो गया था यह तो निर्विवाद तथ्य ही है. ऐसी स्थितिमें मर्यादामार्गीय सार्वजनिक देवालयमें प्रतिष्ठा मानते हैं तो प्रतिष्ठाशास्त्रके अनुसार अस्थानस्थापित स्वस्थानपरिवर्जित देवमूर्तिकी पुनःप्रतिष्ठा विहित है. ऐसी स्थितिमें श्रीदाउजीद्वारा पुनःप्रतिष्ठा माननेपर महाप्रभुप्रतिष्ठापित होना निरस्त होगा. और निरास न मानें तो ''**गिरौ गोवर्धनाख्येतु देवः सर्वेश्वरो हरिः**'' (श्रीपौष्क.संहि.३६।२९५-३३४) के आधारपर तांत्रिकप्रतिष्ठा भी निरस्त न होनेके कारण महाप्रभुद्वारा प्रतिष्ठापित होना भी असिद्ध हो जायेगा. अतः प्रभुचरणके समय अक्षयतृतीयाके दिन पाटोत्सव कैसे निरस्त हुवा और कैसे स्वयं श्रीनाथजी किसी लौकिक निमित्तके वश प्रभुचरणके घर पधारे इसका उल्लेख श्रीव्रजरायजी 'संवत्सरोत्सवकल्पलता'में करते हैं. तदनुसार प्रभुचरणने उसे पारिवारिक देवालय बनाना चाहा था ताकि स्वयंके पिताको श्रीनाथजीने जो पुष्टिसिद्धान्तोंके बाधनद्वारा सार्वजनिक देवालयमें अपुष्टिमार्गीओंसे सेवित होनेकी प्रक्रिया अपनानेको विवश किया था, उसका अंशतः समाधान हो पाये. तदर्थ नूतन प्रतिष्ठावत् प्रादुर्भावोत्सवका क्रम प्रारम्भ हुवा. यह ''**अथ श्रीगोवर्धननाथप्रभुप्रादुर्भावोत्सवः : फाल्गुन्यसितसप्तम्यां श्रीमद्गोवर्धनाधिपः प्रेमातिशयबोधार्थं प्रेमातिशयवत्सलो व्याजं लौकिकम् आश्रित्य श्रीविट्ठलगृहे अगमत्. उत्सवस्तु महान् आसीत् न शक्यो अस्ति वर्णने**'' (संव.कल्प.१-३)

निरूपणमें श्रीव्रजरायजीने प्रतिपादित किया है, पधरामनिके रूपमें नहीं. मतिभ्रम यहां जो उभर कर सामने आ रहा है वह देवालयके सार्वजनिक ही होनेका है. जबकि चर्चासभाके आयोजककी हैसीयतसे खुदकी उपस्थितिमें "घरमें देवालय या देवालयमें घर" पक्षग्रहणमें दो विकल्प प्रस्तुत हुवे ही थे. साधनदीपिकाकारने भी घरमें देवालय पृथक् मान कर कई विधान किये हैं. जिसे स्वयं ऐसी भ्रान्ति निवृत्त न हो पायी हो वो प्रवचन क्या करेगा! यह विचारणीय बन जाता है. खैर, श्रीजीकी आज्ञासे अपुष्टिमार्गीय देवालयको पुष्टिमार्गके अन्तर्भूत करनेको अर्थात् उस देवालयको देवस्वामिक या ग्रामस्वामिक न रहने दे कर जतिपुराके इर्दगिर्द सारा भूभाग प्रभुचरणने स्वद्रव्यसे खरीद कर स्वस्वामिक बनाया इसका उल्लेख स्वयं बादशाह अकबरके फरमानमें घर बनानेके उल्लेख साथ यों वर्णित हुवा है :

> **"इस मुबारक वख्तमें फरमान जारी हुवा कि गुसांई विट्ठलराय साकिन गोकुल मोजा जतिपुरा मुत्तसिल परगने गोरधनमें ज़मीदारोंको रुपया दे कर ज़मीन खरीद कर मक़ानत व बाग़ात व गायोंके खिड़क व मंदिर गोरधननाथके कारखाने तैयार कर रहता है. इसलिये हुक्म जारी हुवा कि ऊपर लिखे मोज़ेको गुसांई मजकूरके कब्जेमें नसलन बाद नसल माफ वा बागुजाश्त छोड़ा गया है....तहरीर तारीख ९ खुरदाद माह इलाही ३९ जुलुसी."**
>
> (बा.फरमान.४)

संयोगवशात् उदयपुरमें उसी दिन नूतन मन्दिरमें पाटपर बिराजनेकी घटनाको अब तूल देनेके पीछे भी दुराशय एकमात्र यही दिखलायी देता है कि प्रभुचरणके घरमें नहीं बिराज रहे हैं किन्तु सार्वजनिक देवालयमें ही. क्योंकि राणाने सिंहाड गांव भी श्रीनाथजीको ही

भेट किया था. झूट बोलनेकी यहां तो सीमा आगयी है! वर्ना तो सर्वो.न्याया.की गो.ति.मा.की पेपरबुकमें प्रस्तुत है ही :

> 1."Maharajadhiraj Maharana Shi Rajsingji commands from ospicious Udaipur the Jagirdar of Sinhad and Brahmnas and all inhabitants. Be it known that Shrinathji residing at Sinhad let cultivated land as may desire be cultivated till such time, when Shrinathji goes back to Brij the the land of those to whom it belongs will... in fact. If any one obstructs in any way he will be rebuked. Grrant masani loghs in smt.1729 on Asoj sudi 15 Thursday".
>
> 2... Be it known that when Shrinathji goes back to Brij from Sinhad Brahmans will get the land as is entered in privious records. So long as Shrinathji...
>
> (As an Annexture No.5/13,5/13A along with appeal in Supreme Court case no.652 and 757 in the year 1962 by T.G. against State of Rajasthan).

ये कैसी रिसर्च है खुदके पगपर कुल्हाडी चलानेकी! सिंहाड गाम भेटरूप दिया ही नहीं गया था कुछ दिन या वर्षों के लिये यात्रामें जैसे कहीं मुकामकी सुविधा दी जाती है वैसी तत्कालिक सुविधामात्र प्रदान की गयी थी. भूमि तो वह वहांके जागीरदार ब्राह्मणोंकी ही मानी गयी थी और उनके स्वामित्वके निरसन बिना केवल ठहरनेकी सुविधा धर्मशालाके जैसी प्रदान की गयी थी. क्यों इस तरहके मिथ्याभाषणद्वारा वैष्णवोंको बरगलाया जा

रहा है? प्रयोजन समझ नहीं आता! खैर, श्रीव्रजरायजी जैसे उसे **''तदागमनसञ्जातः श्रीविट्ठलकुले तदा तदीयैस्तु तदाप्त्यर्थं कर्तव्यः च उत्सवो महान्''** (वहीं ३-४) ऐसे मनोरथके साथ उत्सव मनानेका श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके वंशजोंके लिये अवश्यकर्तव्य दिखला रहे हैं, अन्यान्य टोंडके घनेमें या ग्वालियर आदि बैठक घसियाड़-उदैपुर जैसे स्थलोंपर श्रीजीकी पधरामनिके उत्सव क्यों नहीं मनाये जाते? तो क्या केवल अपवाद सिद्ध करनेको स्वयंका प्रभुचरणवंशज होनेका भी अस्वीकारोपक्रम तो कहीं बनाया नहीं जा रहा है! अतः ऊंट कौन सी करवट ले कर मरुमरीचिकामें लौटना चाहता है, उसका धैर्यपूर्वक विमर्श आवश्यक लगता है.

जन्मभूमि समाचारपत्रमें प्रकाशित 'महाप्रभुजीनी वाणीना स्पर्शथी वहेम दूर थशे अने विश्वास तो अनुभवनो विषय छे' लेखमें खुदके विशिष्ट सुझावोंमें ४, ५, और १०वें सुझाव भी नितान्त देखने लायक हैं:

> ४.**''पोतानां घरमां बिराजता प्रभुमां साक्षात् श्रीकृष्णनो भाव स्थापित करीने तेमने समर्पित थई कृष्णसेवा करवी. ५.पुष्टिमार्गीय श्रीकृष्णसेवानो प्रकार क्यारे पण मर्यादामार्गीय देवालयोनी माफक सार्वजनिक होई शकतो नथी. तेथी कहेवाती पुष्टिमार्गीय सेवामां संमिलित न थवुं''. १०.पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तथी विपरीत कोई पण प्रवृत्तिमां प्रत्यक्ष के परोक्ष सहयोग न आपवो''** (मेरे शब्द : अने जो साडुभाईनी शै-शरमने कारणे, पुष्टिसिद्धान्तथी विपरीत प्रवृत्तिमां प्रत्यक्ष के परोक्ष सहयोग आपवो ज पड़तो होय तो तेने 'अपवाद' घोषित करी देवो!).
>
> (तारीख.५।२।२०१३)

इस तरहके सारे वदतोव्याघात अपनी मन्दमतिको उजागर करनेवाली

रिसर्च(?!) के पहलेके हैं. अब उसके बाद जो व्हॉट्स्-इन् ज़ीरो और व्हॉट्स्-अप् इनफाइनाइट् में प्रस्तुत हुवे हैं उनका लेखा-जोखा भी देख लेना जरूरी हैं.

(ख-अंश) :

उसे देखनेसे पहले एक मौलिक स्पष्टीकरण यह नितान्त अविस्मरणीय है कि भगवान्की अनेकानेक शक्तिओंमें जो एक पुष्टिशक्ति है, वह तो भगवान्की स्वाभाविकी सनातनी शक्ति है. इसे वाल्लभ मतके सिद्धान्त, अपवाद या अपसिद्धान्त मेंसे किसी भी चोखटमें फंसाया नहीं जा सकता. क्योंकि इस पुष्टिशक्तिके द्वारा भगवान् निरुपाधिक सर्वात्मभाववाले भक्तोंकी तरह हिंसाद्वेषादि भाव या जारभावात्मक कामभाव वाले जीवोंका भी उद्धार करते हैं. यही तो भगवान्की सर्वोद्धारकता है कि स्वयंकी प्राप्तिमें असाधनको वे साधन बना लेने समर्थ हैं! इसे यदि पुष्टिमार्गमें अपवाद माना जायेगा, तो आज नहीं तो कल कोई वर्तमानमें फेशनके तोरपर फैल रहे गॅभावात्मक स्नेहसे भी भगवान्का भजन करना चाहे तो, उसे भी अपवादतया मान्य करना पड़ेगा! सृष्टिके निर्माणके समय असुरोंमें ऐसा भाव ब्रह्माजीके बारेमें प्रकट हुवा था. सो बिचारे ब्रह्माजीको आत्मघातके हेतु कायात्याग करना पड़ा. सो सर्वोद्धारकतापर अनपेक्षित भार देनेपर पुनः ऐसी आत्मघातक सृष्टि तो कहीं पैदा नहीं करने जा रहे हैं! वहां भागवतमें भी आया है **''ततो हसन् स भगवान् असुरैः निरपत्रपैः अन्वीयमानः तरसा क्रुद्धो भीतः परातपत्... सो अवधार्य अस्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः विमुञ्च आत्मतनुं घोराम् इति उक्तो विमुमोच ह''** (भाग.पुरा.३।२०।२४-२८). अतः सर्वोद्धारके मोहमें पुष्टिसृष्टिमें ऐसे असुर कहीं हम न पैदा करने उद्यत हो जाये! निजसिद्धान्तका कुछ भी भान न प्रकट होनेके कारण ऐसी कठोर आलोचनार्थ उद्यत होना पड़ता है. खैर, जैसे भगवान्की पुष्टिशक्तिको निजसम्प्रदायके सिद्धान्त या अपवाद या अपसिद्धान्त की

चौखटमें हम समा नहीं सकते, वैसे ही भगवान्के माहात्म्यके द्योतनार्थ बहुधा कई कथानकोंमें 'पुष्टिमार्ग' पद भी प्रयुक्त होता आया है. उन भगवच्चरित्रोंमें सर्वत्र पुष्टिभक्ति या पुष्टिप्रपत्ति के अवच्छेदकसे अवच्छिन्न पुष्टि और पुष्टिमार्ग स्वीकारनेपर तो बाधा नहीं आती. अन्यथा पुष्टिसिद्धान्तका अपवाद खोजनेपर तो अपार अनर्थकी संभावना उठ खड़ी होती है. उदाहरणतया 'पुरुषोत्तमसहस्रनाम'में एक नाम भगवान्का **'पुष्टिसर्गप्रणेता'** (पु.स.ना.४०) भी है और इसकी व्याख्यामें श्रीरघुनाथजी कहते हैं **"'पुष्टिः'=पोषणम् अनुग्रहः तदर्थोपायः 'सर्गः'=सृष्टिः, तस्य 'प्र'कर्षेण 'नेता'=प्रणयनकर्ता... यद्वा मनुसृष्टौ परस्परं भ्रातृणामेव विवाहादिकरणं तद् मर्यादया विरुद्धमपि भगवान् स्वेच्छया कारितवान् इत्यतः पुष्टिसर्गत्वं युक्तम्"** (ना.च.४०) तो क्या ऐसा मर्यादाविरुद्ध कर्म वल्लभसम्प्रदायमें अपवादतया मान्य करना? इसपर तो स्वयं प्रवचन भी कर रहे हैं. पर इतनी स्थूल बात समझ पानेकी भी शक्ति न होनेके कारण अपवादका सिद्धान्त उछाला जाता हो तो क्या कहना?

वस्तुतः तो इसी आशयसे मैंने ध्यान आकृष्ट करना चाहा कि श्रीगोवर्धननाथजी ही नहीं उनके नामात्मक स्वरूप भागवतको भी सर्वोद्धारक/दैवोद्धारक माना गया है. अतः नामविक्रय भी अपवादतया मान्य क्यों नहीं करते? स्वयं भागवतसुबोधिनीमें महाप्रभुके वचन तो मिलते ही हैं :

> **"'वसुकामो वसून्' : एवं धनस्यापि भगवद्भक्तेषु आनत्यर्थं श्रवणादिसिद्ध्यर्थम् उपदेशनार्थं देवम् अपेक्ष्यते. साधनरूपश्रवणादिकन्तु तादृशैरेव भवतीति."**
>
> (सुबो.२।३।३)

तो अपवादतया महाप्रभुद्वारा आज्ञप्त मान कर भंडोली भागवत भी वाल्लभ सम्प्रदायमें अनुमत होनी चाहिये, भागवतके भी सर्वोद्धारक

होनेके कारण ही. तर्कयुक्ति, परन्तु, समझ पानेकी अक्षमताके कारण व्हॉट्स्-अप् भिजवा दिया :

> *"याही तरहसू कथापक्षमें भी श्रीमद्भागवत स्वयं भगवत्स्वरूप होवेसु भागवतसेवन भी फलरूपतया होनो चाहिये नकि साधनतया. या स्थितिमें भागवतसेवनसु जीविकाकी छूट तो निषिद्ध है ही. यासु ही पुष्टिमार्गीय ब्राह्मणकु भागवतशास्त्रके अलावा अन्यशास्त्रके ज्ञानद्वारा ही जीविकाकी छूट है, प्राण कंठमें आ जायें तबभी भागवतवृत्तिकी छूट नहीं है. मैं यही इच्छा रखुं के बड़ेनके आशीर्वादसु मेरी ऐसी मति कभी न होवे जासु मैं कृष्णसेवा या भागवतकथा के बारेमें ऐसी खोटी बात कभी सोचुं भी नहीं ('नहीं'का तात्पर्य क्या?)".*

अब जैसे सर्वोद्धारक भगवत्स्वरूपकी आज्ञा(वह भी बिना किसी तरहके आकलनके वह कब और कैसे निभायी गयी)की और परंपराकी दुहाई दे कर, स्वमार्गीय सिद्धान्तोंको ताकपर रख कर, अपवादतया सेवार्थ परद्रव्यग्रहण निर्दोष तो मान ही लिया है. तो उसी तरह भागवत भी सर्वोद्धारक है और भागवतमें ही स्वयं अनेक कथाप्रसंगोंको लौकिक फलकामनाकी पूर्तिके हेतु श्रवण-पठनका विधान भी मिलता है. उदाहरणतया उपसंहारमें **"द्विजो अधीत्य अनुविन्दते मधुकुल्या घृतकुल्या पयःकुल्याः च तत्फलं... विप्रो अधीत्य आप्नुयात् प्रज्ञां राजन्य उदधिमेखलां वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात्"** (भाग.पुरा.१२।१२।६३-६४) न केवल इतना अपितु भागवतके निमित्त सुवर्णसिंहासनका दान भी स्वयं भागवतमें ही बताया गया है अर्थात् भागवतनिमित्त सुवर्णका दान-प्रतिग्रह भी **"प्रौष्ठपद्यां पौर्णमस्यां हेमसिंहसमन्वितं ददाति यो भागवतं"** (भाग.पुरा.१२।१३।१३).यह सब स्वयं कण्ठोक्त है.

इसी तरह पुराणपरंपराओंमें भी "**कथान्ते.. ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु दक्षिणाभिः प्रतोषयेत् गुरवे वस्त्रभूषादि दत्त्वा गां च समर्पयेत्**" (स्का.भाग.माहा.४।४५।४६). यों श्रीजीकी तरह ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता ही है. क्योंकि सूत तो कथोपजीवी थे यह स्वयं महाप्रभुने भी स्वीकारा है. उनका वध करनेपर स्वयं श्रीबलरामको भी तीर्थयात्राका प्रायश्चित्त करना पड़ा था. सो यहां भी कथोपजीवन अपवादतया क्यों नहीं माना? उसमें बाधक यदि आचार्यवचन हों तो, वे आचार्यवचन सार्वजनिक देवालयको भी अपवाद माननेमें बाधक होंगे ही. और वहां यदि "बाधनं वा हरीच्छया" कल्पसे समाधान करना चाहोगे तो यहां भी "बाधनं वा सर्वोद्धारक-नामरूप-भागवतेच्छया" क्यों नहीं माना जा सकता? यहां ऐसी यौक्तिक आपत्ति और परिहार की समानयोगक्षेमता समझे बिना मान लिया कि मैं गाली देना चाहता हूं!

मुझे तो गाली खाने या देने से भी अधिक आपत्तिजनक कथा आचार्यवाणीका अनादर लगता है. अतएव चर्चासभाके पहले कई गुमनाम पत्रोंमें मुझे 'वर्णसंकर' कहा गया तो इतना बुरा नहीं लगा था. क्योंकि द्वापरान्तमें ही युधिष्ठिरने और इस युगमें स्वयं महाप्रभुने भी कलियुगमें वर्णव्यवस्था नष्ट हो गयी ऐसा माना है. सो जन्मना वर्णसंकर नहीं तो देवद्रव्यादिके भक्षण और उपभोग के कारण हम सभी कर्मणा वर्णसंकर तो हो ही गये हैं. फिरभी महाप्रभुने जो मार्ग प्रवर्तित किया वह भी सर्वाधिकारक होनेसे उनके वचनोंके साथ खिलवाड़ करनेवाले वर्णसंकरोंमें भी मुझे वर्णसंकर लगते हैं.

देखने लायक कथा यह है कि स्वयं ही यह और लिख मारा कि "*सिंहाड गांव राजाने श्रीजीकु भेंट कर दियो ये ही कारण श्रीहरिरायजी महाप्रभु सिंहाड गांव न बिराज कर खेडा गांवमें बिराजे*" अब भला कोई ऐसे रिसर्च स्कोलरसे यह तो पूछे कि क्या श्रीहरिराय

महाप्रभुको, जितनी इनको साम्प्रदायिक सिद्धान्तोंकी जानकारी है, उतनी भी जानकारी नहीं थी क्या? क्यों अपवाद मान कर वे वहीं नही बिराजे? वदतोव्याघातकी भी कोई हद होती है!

यह और लिख मारा है कि "*मेवाड़के राजा भाविक वैष्णव होनेके कारण वल्लभकुलतिलकायतका बहोत सन्मान रखते किन्तु जबभी श्रीजीकी व्यवस्थामें त्रुटि लगती तो व्यवस्थासंबन्धी कार्य वे खुद ले लेते, ऐसो श्रीगिरिधारीजी एवं श्रीदामोदरलालजी के प्रसंगमें दीखे है*" शान्तं पापं! दोनों ही समय केवल बहाना श्रीजीका बनाया गया. वस्तुतः तो दोनोंमें प्रथम श्रीगिरिधारीजीके केसमें पदच्युत करनेका कारण राणाके प्रति राजद्रोह था. दूसरे श्रीदामोदरलालजीके प्रसंगमें तो स्वयं उनके पिता श्रीगोवर्धनलालजीके सुझावके कारण पदच्युत किया गया था : "The immoral character of and the conduct of... his son Damodarlalji has not left him a fit person so that he can not be appointed in the place his father as Tilkayat... if the character of Damodarlalji be not good then he should remain aloof from the office of Tilkayat and the seat and my grandson Govindlalji will be the owner of the seat"=Government of Mewar order no.7676 Of 1948.. क्योंकि ब्रिटिश कानूनके तहत श्रीजीकी ब्रिटिश टेरेटरीमें जो सम्पत्ति थी उसपर उन्होंने आनुवंशिक मालिकीके अधिकारका दावा अंग्रेजोंकी कोर्टमें किया था. और उनके जीत जानेकी आशंका बलवती थी. मुसल्मान वेश्या हंसाके साथ उनके प्रणय और मदिरासेवन आदि अनेक कारणोंसे पिताको खुदकी अपरस छू जायेगी ऐसा भय लग रहा था. इसकी विस्तृत समीक्षा तृतीय प्रकरणमें करनी है, सो अभी इतना पर्याप्त है.

मुद्दा मुख्य यह नहीं है. मुख्य मुद्दा यह है कि यद्यपि वर्णाश्रमकी दृष्टिसे वह निश्चित ही पातित्यकारी आचरण था; फिरभी, पुष्टिमार्गमें

तो वर्णाश्रमके *'अपवादतया'* स्वयं महाप्रभुने कुछ कहा है उसपर ध्यान देना चाहिये. **''तब सगरे वैष्णवनने कही, 'महाराज! माधवदासने वेश्या राखी है'. तब श्रीआचार्यजी पूछें 'क्यों माधवदास! वेश्या राखी है?' तब माधवदासने कही 'महाराज! मेरो मन वाके ऊपर आसक्त है ताते राखी है'. तब तीन बेर श्रीआचार्यजी पूछे तीनो बेर माधवदासने कही... तब श्रीआचार्यजी चुप ह्वै रहे... तब श्रीआचार्यजी वैष्णवनको समाधान कियो 'तुम चिन्ता मति करो याको मन वापर आसक्त है सो श्रीठाकुरजीको फेरत कितनीक बार लगेगी'''** (८४ वै.वा.९।१) यह आज्ञा दी ही थी. सो कुछ गोस्वामी श्रीदामोदरलालजीको भी प्रायश्चित्त करा कर पुनः नाथद्वारामें श्रीजीकी सेवामें पहोंचने देनेके मतके थे? अब अपवादके सिद्धान्तसे कमसे कम इसे तो विपरीत मान कर उदैपुरके महाराणाके विपक्षमें कुछ कहना चाहिये था. वह क्यों नहीं? यह प्रष्टव्य हो जाता है.

व्हॉट्स्-अप्में ६ ठे प्रमाणके रूपमें १२० वचनामृतकार श्रीगिरिधारीजीके वचन जो उद्धृत किये कि ''श्रीजी एवं सात स्वरूप में अभेद होवेपर भी श्रीमहाप्रभुजी और श्रीगुसांईजी इन दोनों आचार्योंने श्रीजीको सेवाप्रकार देवद्वार है किन्तु अन्य सात स्वरूपमें घरकी सेवा है'' ये कैसी कुटिलता इस अपवादकी वकालतमें वापरी है! दाईसे पेट छुपाना जरा टेढ़ी खीर है यह भूल गये! इस वचनामृतकी अविकल शब्दावली यों हैं **''जो सात स्वरूप और श्रीनाथजी तो एक ही हैं, यामें सन्देह नांही है परि श्रीनाथजीको घर है सो श्रीमहाप्रभु-श्रीगुसांईजीने देवद्वार राख्यो है और सात स्वरूप तो अपने-अपने घरमें बिराजे हैं तासों वेदमारगकी रीतिसों(अर्थात् श्रीजीमें वेदमारगकी मर्यादारीति नहीं है) चलनो परे है''**(१२०वच.८१). अर्थात् घरमें देवालय नकि सार्वजनिक देवालय. खैर, अब यह वचन यदि प्रमाण हैं तो कुछ और वचनामृत :

१.''सो ऐसे दोय दिन बिराजे तहां तांई झूमका अपने

पास रख्यो और आज्ञा करी जो 'हम सब भाई-बन्द मिलिके तुमकों सोंपे हैं सो श्रीनाथजीके सुखार्थ, जो कोउ कित और कोउ कित... सो झूमका प्रसादी भंडारमें रहेगो... और अब तो श्रीनाथजीके घरमें श्रीगिरिधारीजीकी ऐसी मर्जी भई सो सब भैयाबंदनको हक उठाय दीनो ताको प्रतिफल भयो सो अपन सब देखें हैं जो व्रजवास करनो पड़्यो''.

२.जो श्रीनाथजी हैं सो सबके बाँटेमें हैं(अविभक्त संयुक्तपरिवारके घरमें देवालय **) तासों हिलमिलके सेवा करियो. श्रीनाथजीको द्रव्य अपने अंग मति लगाईयो (** अपवाद हों तो लगानेमें दोष नहीं होना चाहिये था! **)''.**

३.''सो अजबकुंवरीबाईको मनोरथ पूरन करिवे मेवाड़देशमें सिंहाड़गांमके विसे सं.१७२८ की सालमें म्लेच्छके उपद्रवसों पधारे सो अनेक भक्तनके उद्धारार्थ बिराजे हैं(इतना अंश अपवाद सिद्ध करनेको मीठा लगा अब आगेका अंश अपवादविरोधी होनेसे थूंक दिया लगता हैं) और श्रीआचार्यजीमहाप्रभु-श्रीगुसांईजीकी आज्ञाप्रमाण आपको निजवंश पुष्टिरीतिसों बड़े वैभवयुक्त सेवा करे हैं''.

४.''सो घसियाड़में चार-पांच बरस श्रीनाथजी बिराजे और श्रीगिरिधारीजी महाराजको देहान्त घसियाड़में ही भयो औरहु एक लालजीको देहान्त भयो सो तब श्रीभागीरथीबहुजीकों श्रीनाथजीने आज्ञा करी जो मोकुं यहांसु पधरावो न पधरावोगे तो तुम्हारो वंश समाप्त होयगो. सो तब तो उदैपुर कहेवाई परि राना भीमसिंहने न मानी...(यदि रानाने सिंहाड़ स्वयं श्रीनाथजीको भेट किया होता और वह भावुक भी था तो ना पाड़नेका साहस कैसे हुवा?)''

५.फिर श्रीदाउजी महाराजकी वीनती कांकरोली आई

जो 'सातों स्वरूपनके संग श्रीनाथकों अन्नकूट आरोगिवेकी इच्छा है सो तासों श्रीद्वाराधीशजीकों पधरावो'. सो तापर आप लिखे जो 'या मनोरथमें श्रीनाथको द्रव्य उठेगो तासों हमारे प्रभु नहीं पधारेंगे'. तब श्रीदाउजी महाराजने फेरी उत्तर लिख्यो जो 'या मनोरथमें द्रव्य परभारो पटनावारे बाबू बैजनाथको उठेगो सो तासों आप कछु सन्देह न लावें''(अर्थात् अपवाद यदि माना होता श्रीजीका द्रव्य अपने ठाकुरको आरोगने देनेमें क्या आपत्ति होनी चाहिये थी. जबकि अन्यत्र घरमें बिराजते ठाकुरके भोगार्थ तो पटनावाले बैजनाथका द्रव्य अपसिद्धान्त होनेके बावजूद लिया जा रहा है?).

(१२० वच.३९, ६८, ७८, ४६)

ये वचनामृत पढ़े नहीं लगते 'अब्धिः लंघितमेव वानरभटैः'न्यायेन अथवा अपवादकी धारणाका तो यहां श्राद्ध ही हो गया सो मौनमें श्रेय मान लिया लगता है! दोनों वचनोंकी एकवाक्यता करनेपर अविभक्तसंयुक्तपरिवारके स्वामित्वका देवालय सिद्ध होता है, सार्वजनिक देवालय नहीं. और जिनको तत्कालीन पुष्टिमार्गमें प्रमाणतया स्वीकारा जा रहा है वे भी स्वमार्गीय सिद्धान्तको पूर्णनिष्ठासे नहीं बल्कि अधकचरी निष्ठासे निभा रहे थे. आश्रयदाता शैव राणाओंको खुश करने अपने संप्रदायमें निषिद्ध होनेपर भी गणगौरपूजन तथा एकलिंगजीके दर्शन-भेटका भी इतिहास मिलता है. जब कोई स्वमार्गीय सवाल उठाता कि ऐसा अन्याश्रय क्यों करते हो तो उसको ऐसे समझाया जाता कि ये गणगौर नहीं ठाकुरजीकी सेवामें रखे जाते ग्वाल-गोपी हैं और उदैपुरकी एकलिंग महादेवजीकी भक्तजनताको समझाया जाता था कि गणगौरका पूजन हम भी करते हैं. वस्तुतः तो सिंहाड़ गाम भी एकलिंगजीके पुजारी ब्राह्मणोंकी जागीर थी. इसी कारण शुरुआतमें राणा न श्रीजीको और न तिलकायत को ही देना चाहते थे. बादमें

बड़े-बड़े उत्सवोंमें सारे देशकी जनताको आमंत्रित कर छोटे-छोटे सेठ-सेठानिओंसे राजाओंसे अधिक भेट-चढावा मिलता है ऐसी छाप खड़ी करके राजाओंको नीचे दिखा कर, छल-बल-कलसे एकलिंग महादेवजीकी आय और संपत्ति हड़प ली! इस तरह भक्तिके नामपर चलायी जाती घोखाधड़ी, जो लाचार श्रीगोकुलनाथजीकी विद्यमानतामें सेवकोंद्वारा शुरु हुई उसे बादमें *''राजान्के राजा महाराजा गोकुलके छत्रपति गोब्राह्मण(उन्हें शूद्रोचित प्रसादविक्रेता बना कर)प्रतिपालक जगद्गुरु अखंडभूमंडलाचार्य''*की छड़ी पुकरवा कर हीनतम व्यापारी बन गये, प्रसादकी महिमाके जोरशोरसे शंख फूंके जाने लगे! धर्मकी इस दुकानदारीका मनोरम चित्रण कवि घनश्यामने किया है :

१.''इते चल नीके फेरि दरशन कराऊं तोहि, कंठीबंद वैष्णव जो मनको मरजादी है. 'घनश्यामप्यारे' दंडौत कर भेट धर, लेवे उपरना जामदानीको प्रसादी है. बीडा हु लेके चरणामृत हु लेगो कहा. सेवा प्रभूकी कछु जमा भी करा दी है? तू कहा जाने तेरी दादी यहां आई हती. येही श्रीआचार्य महाप्रभुजीकी गादी है.''

२.''बूंदीके सेवके मनोहरके मगदहूके, मोहनथार केसरी धरी है नेग लायके. 'घनश्यामप्यारे' पेड़ा बरफी बदामपाक पेठापाक मावादार गूंजा देख खायके. लुचई नरम पूड़ी राजभोग और सैन हूकी, और दूधपूड़ी तवापूड़ी छबि छायके. बरकदार केसरी प्रसाद भांति-भांतिन् के, बैठे हैं परसादिया ये दुकानको सजायके. मेवाके कसारुके मावेके अनेकविध, गूंजा धरे मठड़ी और ठोर एक हाटपे. 'घनश्यामप्यारे' मददीपक मुखविलास सिखरन खोआ खीर मलाई धरी पाटपे. धरे फलफूल केरा संतरा अनार सेव, नारंगी अंगूर दाख सजायके कपाटपे. दूध दही माखन अथाने केर केरीके, अमित महाप्रसाद सजाय बैठे हाटपे''

(घन.श्रीनाथ.).

यह महाप्रभुकी धर्मगादी(!)के अन्तर्गत महाप्रसादकी दुकनदारी है या श्रीनाथखाद्यान्न अन्तर्राष्ट्रीय भंडारके अन्तर्गत महाप्रभुकी धर्मगादीका विक्रयकेन्द्र? हकीकतमें तो समर्पितग्रहणपर जो सैद्धान्तिक भार था प्रसादग्रहणपर नहीं. इसे ही बीनकारकी वार्तामें स्वयं २५२ वार्ताकारके रोनेके इतने वर्षोंके बाद बेचारा टॉड् भी पुनः सातस्वरूपके अन्नकूटके नाटकके वर्णनमें रो रहा है :

"What effect the milder rites of the shepherd-god have produced on the adorers of Shiva we know not but assuredly Ekling, the tutelary divinity of Mewar, has to complain of being defrauded of half his dues since Kanhiya transferred his abode from the Yamuna to Banas"

(Annals And Antiquities of Rajasthan
by James Tod.page 526.lines 1to5)

देख लो कि "defraud v.t.Cheat"(The Reader's Digest Great Ency.Dict.page 237) सारी सम्पत्ति धोखाधड़ीसे इकट्ठी हुयी है यदि टॉड्के वचनोंको प्रमाण मानते हों तो अन्यथा पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंका निर्धारण, उत्सर्गरूप हों या अपवादरूप हों, महाप्रभु-प्रभुचरणोंके ग्रन्थोक्त विधानोंके आधारपर ही होना और करना चाहिये. परन्तु स्वयं इसे खोजनेके बावजूद टॉड् कह क्या रहा है उसपर ध्यान नहीं देना है. केवल पुष्टिमार्गमें सैद्धान्तिक अपवादके रूपमें बिरदानेको दुहाई देनी है. क्योंकि भक्तिकी धोखाधड़ीका ये सारा धन्धा खुद टॉड्के हिसाबसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप तभी ले चुका था. यदि इसे पुष्टिका अपवाद मानें तो प्रसादविक्रय भक्तिभावघातक व्यापार है. यदि मर्यादा मानते हैं तो **"सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्"** (मनु.१०।९२) तो आज तो प्रसादविक्रयके

२०% कमीशन्के बिना हम जगद्गुरुओंको हमारा गुरुपद खोनेका भय सताता है. अतएव व्हॉट्स्-अप्में यह मुद्दा पुनः बहकाया जा रहा है पुष्टिसिद्धान्तके प्रचारके बहाने! हम पू.पा.महाराजश्री अन्नकूट छप्पनभोग और नित्यनेग की सामग्री खुद भी बेचते हैं और नोकरोंसे भी बिकवाते हैं. और फिर अकाण्डताण्डव अपरसका और करते हैं "ये छू गया—वो अपरसमें नहीं चलता है—हमारी अपरस निभानेकी व्यवस्था नहीं तो बुलाया क्यों?" जबकि मर्यादाशास्त्र तो हमें सद्यःपतित शूद्र मान रहा है! सो वैष्णवोंको हमारा स्पर्श हो जाये तो स्नान करने दौड़ना चाहिये. इस अधःपतनका बेबाक कारण श्रीगोवर्धनलालजी ये देते हैं **"श्रीमहाप्रभुजीने जा प्रमाण रहवेकी आज्ञा करी है ता प्रमाणसू अब रह्यो नहि जाये है, घरमें वैभव बढ़ जायवेसु पैसावालेको आश्रय करवेसु भगवद्भावकी हानि होय जाय है और स्नेह छुट जाय है. स्नेहपूर्वक सेवा न बनवेसु प्रभु सेवा अंगीकार नहीं करें हैं. तासु जीवमात्रको अंतराय पड़ जाय है"** (वच.४१।२१) है.

खैर, उदैपुरमहाराणाने श्रीगिरिधारीजी महाराजको पागल ठहरा कर क्यों देशनिकाला दिया वो तो उदैपुरकी तवारिख जब तृतीय प्रकरणमें देखेंगे तो स्वतः खुलासा हो जायेगा. ये तो केवल अपवादको प्रमाणित करनेवाले वचनामृतोंमें मिलती स्वमार्गनिष्ठाकी कथा है!

रही कथा बीनकारकी वार्तामें श्रीनाथजीके प्रसादविक्रयकी, वह तो स्वमार्गीय मतिके नितान्त अधःपतनकी दारुण व्यथा पैदा करती है. कुछभी पूर्वापर सन्दर्भका विचार किये बिना मुखमस्तीति वक्तव्यं स्वभाव प्रकट कर दिया है. वार्तामें वर्णन यों मिलता है :

"(क)श्रीनाथजीके यहांते नेग महाप्रसाद मिलतो. सो पहले प्रसाद कोऊ न्योछावरि सों न देते. जो कछू नेग दें तामें बचे सो वैष्णवनकों लिवावते... (ख)तब श्रीगुसांईजीने

कही जो 'तू परदेश मति जाहि तोपै श्रीनाथजी प्रसन्न हैं, तोकों द्रव्य चाहिए तो श्रीनाथजीके भंडारमेंते दिवावें'. तब बीनकारने कही जो महाराज! मैं श्रीनाथजीको देवद्रव्य कैसे लेउ?''

(२५२ वै.वा.१५६).

इस वार्ताके (क)अंशमें ही इतना तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि मूलत: तो श्रीजीके प्रसादको, न तो सिद्धान्त और न अपवाद के ही वश, बेचा या लिया जाता था. अब इसे प्रमाण न मानना हो, क्योंकि सिद्धान्तनिष्ठाके ह्रासको अतिशय अभिलषित जो अपवाद है, वह तो सिद्ध नहीं हो पायेगा. उदाहरणतया मैं ही एक विधान करूं कि ''मूलमें हम गुसांई देवलकवृत्ति नहीं करते थें'' अब कोई मुझे ही उद्धृत करके दावा करे कि मैं भी परंपरासे देवद्रव्य लिया जाता स्वीकारता हुं! तो उपाय क्या? त्रेतायुगमें भी रावणने सीताजीका अपहरण किया था वर्णन करनेवाली रामायणका कर्तव्योपदेश कोई इस तरहसे ले कि तब कलियुगमें अपवादतया क्यों अपहरण नहीं किया जा सकता?

अत: मेरे कहनेका अभिप्राय तो बीनकारके जैसा कोई सिद्धान्तनिष्ठ दुर्लभ परमभगवदीय हो तभी हृद्गत हो पायेगा. और वह भी देखो के मार्गाचार्यके सामने, उसकी आज्ञाकी भी अवहेलना करनेका साहस जुटा कर, कह पायेगा कि ''महाराज! मैं श्रीनाथजीको देवद्रव्य कैसे लेउ?'' जैसा कि बेचारी एक वैष्णवने इन्हें भी मुखपर कह ही दिया था ऐसा मैंने सुना. आधुनिक हमारी दुरवस्था और प्रभुचरणकी दिव्य महत्ता में अन्तर यहीं प्रकट हो जाता है कि प्रभुचरणने बीनकारको यह नहीं कहा कि अपवादतया लिया जा सकता है. साथ ही साथ सर्वाधिक अध:पात तो यह है कि तब श्रीजीके सेवकोंको रोकड़ा पगार नहीं दिया जाता था. क्योंकि ये सेवक प्राय: 'भक्तिवर्धिनी'के

६ से ८ में श्लोकोंमें उपदिष्ट अनुकल्पका अनुसरण करनेवाले अकिंचन वैष्णव होते थे. अत: उनको केवल प्रसाद दिया जाता था. वह देवद्रव्य क्यों नहीं होता था उसकी विशद विवेचना मेरेद्वारा लिखित 'विशोधनिका' द्वितीय प्रकरणमें देखी जा सकती है.

परन्तु श्रीजीकी विविध प्रकारकी सेवार्थ जिन्हें अधिकारी बनाया गया, उन सेवकोंमें प्रसादविक्रयकी पनपी दुर्मनोवृत्तिका उल्लेख वार्ताकार दोषके रूपमें कर रहे हैं. प्रशंसाके रूपमें नहीं! किसी भी सूरतमें आज तो खुद देवालय प्रसादविक्रय करने लगा है और जिसका २०% कमिशन स्वयं वल्लभवंशकी प्रधानपीठ ही नहीं प्राय: सभी घर एक नहीं तो दूसरी रीतसे प्रसादकी महिमा गा-गा कर अपने गर्हित धन्धेकी आधिदैविक विज्ञापनबाजी कर रहे हैं! उनकी तुलनामें व्हॉट्स्-अप् पे उभरी यह वकालत तो नगण्य ही है. इन व्हॉट्स्-अप्की व्यसनी एक बहनका कहना है कि श्याममनोहरजी इतने दिनोंसे कह रहे हैं पर उनकी सुनता-मानता कौन है? यह तो अकाट्य तथ्य ही है. क्योंकि प्रसादके जीभके स्वादके जितने महाप्रभुके सिद्धान्त मीठे अब लगते नहीं हैं! वैसे यह पुष्टिसिद्धान्तका अपवाद नहीं प्रत्युत घिनोनी विकृति है, यदि सिद्धान्तनिष्ठा मर कर सड़ न रही हो तो. इस घिनोनी विकृतिकी उस निखालस दोषस्वीकृतिसे तुलना हो कैसे सकती है? इसीका उल्लेख—

''तब श्रीगुसांईजी आपु कहे जो 'हम कौनसे जीवको कहें! जो कौनसे जीवको बिगार करें सुधारनो तो बहोत कठिन है और बिगारनो तो तत्काल है. तासों श्रीगोवर्धनको अधिकार हम कौनको देंय?... पाछे श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछे जो 'महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी और अधिकारी बिना चलेगी नहीं सो हम कौनकों अधिकार देके बिगार करे?' तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे

जो 'हमहू कौन जीवको बिगार करैं? जो कोई अधिकार लेयगो ताको बिगार होयगो. तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो 'जाको अधिकार करनो होय सो दुसाला ओढ़ो'. तब जो आयके कहे ताको देऊ. सो जाको गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो''.

(८४ वै.वा.८४।१०).

वार्ताका मिथ्याडम्बरपूर्ण आधार ले कर जोरशोरसे नगाडा तो बजा रहे हो. परन्तु यह क्यों नहीं पढ़ा कि ''जगत्में पुजायवेकी तासों देवालयको रीति यहां राखनी उचित है'' की जो आज्ञा श्रीजीने दी उस जगदुद्धारके कल्पवृक्षकी जड़ोंमें स्वयं अपने भक्त सेवाधिकारियोंके बिगाड़की खाद गिरानेको दी थी! अप्रमाण मानते हैं तो पहली भी अप्रमाण सिद्ध होगी. उसे प्रमाण मानते तो ये आज्ञा भी प्रमाण माननी पड़ेगी! तो ये है वो तथाकल्पित अपवादके सिद्धान्तका रहस्य कि जिसको पुष्टिमार्ग जैसे भगवत्कृपाके मार्गपर चलनेके बावजूद भक्तिकी निश्छल भक्तिका मनोभाव नहीं सुहाता प्रत्युत अपना अधःपात ही सुहाता हो वह स्वयं ही सेवाधिकारका दुसाला औढ़ने तब नहीं; परन्तु, आज व्हॉट्स्-अप्के युग तक कटिबद्ध है. अतएव प्रभुचरणको अपने बिरले सेवक नागजी भट्टके निरपवादभाववश हुयी असन्तुष्टिके समाधानतया अन्तमें तो कहना ही पड़ा : ''**असन्तुष्टि सरसि कुशेशयम् अप्यास्वादयितुम् आगच्छतो अलिनो मार्गे यदि कनककमलपाने न आसीत् तोषः किम् अन्येन? समाधान यदि अलिरपि निरुपधिभावस्वभावतः समागच्छेद् निरवधितोषो अस्य अत्रापि भवेदेव इति किं वाच्यम्!**'' (२५२ वै.वा.१।४) आजकी तारीख प्रसादविक्रयी हम जगद्गुरुओंको ये नागजीभट्ट निश्चय ही बहिर्मुख लगेंगे!

हर सूरतमें यह ''हमहु कौनको बिगार करें? जाको होनो होयगो

सो आप दुसाला ओढ़ेगो'' वचनामृत भी प्रभुचरण और श्रीगोवर्धनधरण का निजमुखारविन्दोक्त 'एम-ओ-यू' है. जो वार्ताकारद्वारा सर्टिफाईड है. इसे ही वार्ताकार सेवकोंके द्वारा मूलमें प्रसादविक्रय नहीं होता था कि हार्दिक मनोवेदनाद्वारा अभिव्यक्त कर रहे हैं. और ऐसे इस आधिकारिक अधःपतनकी अतीव दारुण कथा १२० वचनामृतकारने भी रो-रो कर सुनाई है. न जाने क्या-क्या घिनोने आन्तरिक रहस्य उसमें छिप हुवे हैं, जिन्हें कह पानेका साहस वे खुद भी नहीं जुटा पा रहे हैं, इस दिव्य मार्गके अपयशकी भीतिके कारण :

''जो श्रीगिरिधरजीके बड़े लालजी श्रीमुरलीधरजी इन्द्रप्रस्थमें देसाधिपतिके पास चाकरी करिवेको पधारे... (उल्लेखनीय बन जाता है श्रीभागवतवचन ''ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा सत्यानृताभ्यां जीवेत न श्ववृत्त्या कदाचन... सत्यामृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिः नीचसेवनं वर्जयेत् तां सदा विप्रो...'' (भाग.पुरा.७।११।१७-२९)) **पीछे दूसरे दिन श्रीनाथजीके दर्शनार्थ गोपालपुरमें गये सो तब वैसेई सूथन पहरिके कमर बांधिके श्रीनाथजीके दरशन करे... सो श्रीगोकुलनाथजीने देखिके आज्ञा करि जो 'अपनो मारग आजकल कमी चले है जो तुमने श्रीनाथजीकी कानि तोड़ी. तासों अब यह (अपवादपक्षी) मारग अगाड़ी चले'गो... तब तो श्रीमुरलीधरजी रिस करिके जामनी भाषामें बोले जो 'चाचाजी होतो अपने घरके हो. हमसों तीनतोफान मति करियो नहीं तो याको फल दिखाय दऊंगो'... सो यह बात सुनिकें श्रीगोकुलनाथजी चुप होय रहे और सब बालक हते तिन सबनकों बुरी लगी... तब श्रीगोकुलनाथजीने इतनी कही के जो 'जा दिनाँ श्रीदादाजी नहीं होंयगे आपुनकों ये गोकुलवास नहीं करिवे देंगे... सो आगे (व्हॉट्स्-अप्वारे) बालकनको कहा पता लगेगो?'... फेरि मथुरामें जहर भयो सो आरोगायवेवारेको**

नाम लिखवेमें आवे नहीं... तब इतनेमें दोय बालकनने मिलके अग्निसंस्कार कियो सो यह खबर श्रीगिरिधरजीकों रावलीके घाटपे भई सो ऊहां तो अग्निसंस्कार होय गयो''.

(१२० वच.७१)

तो यह है महाप्रभुद्वारा प्रवर्तित दिव्य पुष्टिमार्गकी कथा सिर्फ तीसरी पीढ़ी पर. इसे हम बड़ोंकी परंपरा मान कर पुनः उसी तरहके बिगारकी प्रणालीका! अब पुनः पुष्टिमर्यादा और अपवाद के नामपर, मार्गीय सिद्धान्तोंका, प्रभुचरणके प्रिय ज्येष्ठात्मज श्रीगिरिधरजीके पहोंचनेसे पूर्व ही हम भी अग्निसंस्कार करके सबूतको रफादफा करना चाहते हैं! महाप्रभुके **''लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवत अखिलाः. चित्तोद्वेगं विधायापि हरिः यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीला इति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्''**, **''त्रिदुःखसहनं धैर्यम् आमृतेः सर्वतः सदा''** (न.र.६-८, वि.धै.आ.५-६) सिद्धान्त नहीं अपवाद(!) ही रुचता है.

सिद्धान्तप्रवर्तक पितापुत्रोके निरपवाद उपदेशोंके बजाय. खैर, इस वदतोव्याघातके प्रकरणमें यह स्वोदाहृतसे व्याहत विधान है सो इस निरूपणका उपसंहार करनेसे पहले व्हॉट्स्-अप् पर ही मुझे मिली एक पोस्टको यहां उद्धृत करनेका लोभसंवरण नहीं कर सकता :

> ''तेरे मतानुसार श्रीनाथजीकी सेवा वल्लभकुलद्वारा मेनेज्ड् है पब्लिक टेम्पलमें. वो ''prescribed by sree acharychji'' है. परन्तु आज श्रीनाथजीके मन्दिरमें pushtimargiya vaishnavas were taking benifits of shreeji's seva on the basis of relationship of guru-shishya, but now a days this principle is not observed in this place'' वा सिद्धान्तको पालन नहीं हो रह्यो है.

> ऐसी स्थितिमें तेरे मतानुसार श्रीनाथजीमें भी ''Doing religious activity on commercial terms is totally disallowed. neither one should do himself nor encourage others to do it'' अतः तेरे मतानुसार श्रीनाथजीमन्दिरमें दर्शनार्थ जानो, वहां परिचर्या करनी, भेट-मनोरथ लिखानो आदि neither one should do it nor encourage others to do it तो अब समस्या क्या है?

(गो. योगेशबावा vrs गो. शरदबावा संवाद).

मुझे पता नहीं इस जिज्ञासाका क्या समाधान दिया या नहीं दिया. विचार करनेकी सारी रीतमें, बोलनेकी सारी रीतमें और फोन कर-कर के वैष्णवोंके सामने रिसर्च करनेकी शैखी बघारनेकी रीतमें किसी भी तरहके स्वस्थ बुद्धिके प्रमाण दिखलायी नहीं देते है.

फिरभी महाप्रभुके उत्सवके समय समाधान वितरित कर पाऊं तदर्थ इस प्रकरणको अल्पविराम दे रहा हूं.

बेचारे भोले वैष्णवोंको बेवकूफ बनानेके बजाय व्हॉट्स्-अप् पर खुलके अपना मत प्रस्तुत करनेका तो जितना भी अभिनन्दन दूं मुझे कम लगता है. क्योंकि यदि हमारा वैयक्तिक या पारिवारिक कोई स्वार्थ इसमें निहित न हो तो अपने मार्गके दिव्य सिद्धान्तोंकी सौम्य हो या कठोर कैसी भी भाषामें चर्चा करनी खोटी शालीनताका मुखोटा पहनने के बजाय वस्तुतः अच्छी बात है.

मुझे हार्दिक खुशी होगी यदि मेरे द्वारा दिखलायी गयी आपत्तियोंका मेरे जैसी कठोरभाषामें या जो भी भाषा अनुकूल हो उसमें निराकरण किया जाये. चौथा प्रकरण १८ प्रमाणाभास और १० हेत्वाभासों का

एकैकशः समाधानवाला होगा. सो निष्कर्षके साथ उन्हें उत्सवके बाद यथापेक्षित लिखना तो है ही. और क्या?

वाक्पतिर्वल्लभोऽस्माकं वाग्गतिर्वल्लभोक्तिषु।
वाग्रतिस्तु तदुक्तार्थे श्रीकृष्णे परमात्मनि॥
सदैव वाक्पतेर्वाणी हृद्यारूढा हि तिष्ठतु।
तदानुषंगिकतयाऽप्यायान्तु यान्तु वेतराः॥

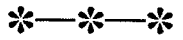

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ अपार्थकयुक्तिनिरासः ॥

योगेशोक्ता अप्ययुक्ताः यास्त्वपार्थकयुक्तयः ॥
स्वाचार्यसूक्तिभिस्तासां निरासोक्तिरियं मम ॥१॥
अपार्थकानां युक्तीनां निरासोऽपि निरर्थकः ॥
मोहभंगाय मुग्धानां भंगस्तासां चिकीर्षितः ॥२॥

(अपार्थकयुक्ति १)

श्रीनाथजीका स्वरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण ही होने के कारण आप पुष्टिप्रभु ही हैं.

(निराकरण १)

'श्रीनाथजीका स्वरूप एवं सेवाप्रकार'के लेखकका स्वमार्गीय सिद्धान्तग्रंथोंका अध्ययन - बोध क्या - कैसा है कहना अनावश्यक होनेसे केवल युक्त्याभासों का ही निराकरण यहां करना चाहेंगे. सर्वप्रथम इस उल्लिखित विधानके सन्दर्भमें महाप्रभुजीका सिद्धान्त है **"अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्"** (त.दी.नि.२।१८२) अर्थात् सम्पूर्ण नामरूपकर्मात्मिका सृष्टि अखण्ड कृष्णात्मिका है तावता क्या सारी सृष्टि पुष्टिप्रभुरूपा मानी जा सकती है? यदि 'हां' तो कुछ वैशिष्ट्य सिद्ध नहीं होता. अतः 'ना' कहनी हो तो स्वरूपतः अखण्ड रहते हुए भी श्रीकृष्ण पुष्टि मर्यादा और प्रवाह मार्गीय की लीलाओंके खंड प्रकट करते हैं यह मानना पड़ेगा. तो जिन नाम रूप या कर्मों के द्वारा भगवान पुष्टिलीला प्रकट करते हैं वे ही पुष्टिमार्गीय होंगे अन्य अन्यमार्गीय. अतएव भगवानके कृष्णावतारके अलावा भी श्रीराम श्रीवामन श्रीनृसिंह को पुष्टि-अवतार माना गया है. उन रूपोंके द्वारा व्रजलीला न की

गई होनेपर भी व्रजलीलाकी भावनासे की जाती पुष्टिमार्गीय सेवारीतिमें उनकी जयन्तीमें जन्मोत्सव, पञ्चामृताभिषेक, तुलसी-पुष्प-चन्दनादिसे पूजन, धूपदीप आरती, लीलापदगान आदि किया ही जाता है. अतः श्रीकृष्णरूप न होनेपर भी पुष्टिपुरुषोत्तम तो मानने ही पड़ेंगे. अन्यथा **"अन्यस्य भजनं तत्र...प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्"** (वि.धै.आ.१४) वचनका बाध होगा. ऐसी स्थितिमें न केवल पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें; अपितु अस्वमार्गीय देवालयोंमें भी, या तो उनको पुष्टिपुरुषोत्तम मान लेनेपर भक्तिभाव अन्याश्रय नहीं होगा, अन्यथा पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें इन जयन्तीओंके उत्सव मनाना अन्याश्रय दोषमें ही गिनना पड़ेगा.

जैसे श्रीनाथजीका स्वरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णका है और महाप्रभुद्वारा भोगरागशृंगारकी पुष्टिमार्गीय बहिरंग सेवाका प्रकार यहां रखा गया है, वैसे ही बेटद्वारकामें द्वारकाधीशका भी स्वरूप भी स्वयंभु है और स्वयं महाप्रभुद्वारा पाटपर प्रतिष्ठापित है. फिरभी सेवाका अन्तरंग स्वरूप देवालयका ही रखा गया है, बहिरंग नेगभोगरागशृंगार आदिकी रीति पुष्टिमार्गीय रखी गयी होनेपर भी. ऐसे ही माधवपुरके माधवरायजी, डाकोरके श्रीरणछोड़रायजी, महावनमें दाऊजी, मुंबईमें श्रीलक्ष्मीनारायणका स्वरूप, माधवबागमें, ह्युजीसरोड, पार्ला जुहु आदि अनेक स्थलोंमें पुष्टिमार्गीय बहिरंग भोगरागशृंगारात्मिका सेवाके देवालय हैं. इन सभी स्थलोंमें पुष्टिपुरुषोत्तम मानने या नहीं? यदि मानते हैं तो कुछ वैशिष्ट्य नहीं रह जाता. यदि नहीं मानते तो अन्याश्रयदोष या परंपरासे इनके छपन्नभोग धराने आदिकी जो वल्लभवंशज सेवा करते रहें उसे अन्याश्रयरूप अपराध मानना पड़ेगा. यदि इनके व्रजभावात्मक स्वरूप होनेका इनकार करते हैं तो अच्युतदास गौड़ ब्राह्मणको तो व्रजमंडलमें प्रकट व्रजभावात्मक स्वयंभु मदनमोहनजी पधराये गये थे, जिनकी बादमें प्रभुचरणने भी सेवा की थी (द्र.८४ वै.वा.५५). उन्हें श्रीनाथजीकी एवजमें जब बंगालियोंको पधराया गया तब श्रीगोपीनाथजीप्रभुचरणके मर्यादास्वरूप होनेसे उनकेद्वारा बादमें सेवित होनेके कारण ये

भी मर्यादामार्गीय वार्ता (द्रष्ट.८४ वै.वा.भा.प्र.८४।२)में माने गये. अतएव वहीं पधराये गये, ऐसा विधान भी मिलता है. तब श्रीजी भी जब मर्यादामार्गीय रीतिसे सेवित थे तब मर्यादामार्गीय क्यों सिद्ध नहीं होंगे? और अब तो न मर्यादा और न पुष्टि किन्तु व्यवसायमार्गसे सेवित हो रहे हों तो, व्यवसायमार्गीय श्रीगोवर्धननाथको भी मानना ही पड़ेगा.

अत: जैसा कि पूर्वोदाहृत प्राकट्यवार्तामें महाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तसे विरुद्ध गप्पबाजीकी इतनी भरमार है कि उसे प्रमाणतया मान्य नहीं किया जा सकता. यह तो केवल इसी बातसे पता चल जाता है कि इसके प्रारंभके वाक्य **"अब श्रीगोवर्धननाथजी... तो चरित्र भूमिलोकमें कीने सो श्रीगोकुलनाथजीके श्रीहरिरायजीके वचनामृतादिक संगृहनमें ते उद्धार करिके न्यारे लिखत हैं"** (वहीं उपक्रम).

अर्थात्

१. न गोकुलनाथजीकी और न हरिरायजीकी बल्कि यह किसी तीसरेकी कृति है. और वह अपना नाम भी अकथित दुराशयवश छुपा रहा है यह तो निरूपित कर ही चुके हैं.

अत: जैसा कि महाप्रभु और गोपीनाथप्रभुचरण के पूर्वोक्त **"जगन्नाथे विट्ठले श्रीरंगे वैकंटे तथा..."**,**"जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले यत्र पूजाप्रवाह: स्यात् तत्र तिष्ठेत् तत्पर:"** (त.दी.नि.२।२५५, साध.दीपि.३६), साथ ही साथ सुबोधिनीमें **"लौकिकस्य अनर्थस्य लौकिकैरेव निवृत्ति: युक्तेति सांख्यादय: सिद्धान्ता: प्रवृत्ता:, तत्रापि शीघ्रहृदयग्रंथिभेदक: वैष्णव: तन्त्र: परात्मनो विधिना = न विभूत्यादिभजनप्रकारेण केवलेन पुष्टिमार्गेण. तत्र अशक्तौ तन्त्रोक्तप्रकारेणापि कृष्णमेव भजेत्. अथवा समुच्चयो मर्यादया. उभयथापि पुष्टिमार्गस्थितत्वात् केशवमेव भजेत्"** (सुबो.११।३।४७), इन इतरेतरसंगत विधानोद्वारा पुष्टिमार्गीयोंके लिये पूजाप्रवाहवाले भगवत्सांनिध्यके

देशोंमे अन्याश्रयदोषरहित परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णका ही भजन मान रहे हैं.

ऐसी स्थितिमें -

१.केवल पुष्टिमार्गीयप्रणाली. २. तदर्थ अशक्त होनेपर केवल तन्त्रोक्तप्रणाली. ३. अथवा पुष्टि और मर्यादा के समुच्चयकी प्रणाली.

इन तीनों प्रणालीयोंमें से किसी भी एक प्रणालीके सेवाके प्रकारमें पुरुषोत्तमका ही भजन आज्ञप्त भी है और अनुज्ञप्त भी. वहां केवल मर्यादासे भजे जाते देवविग्रहोंको पुष्टिपुरुषोत्तम न मानना **"अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्"** (त.दी.नि.२।१८२)की तत्त्वदृष्टि और पुष्टिसम्प्रदायमें पुष्टिसम्प्रदायआचार्यद्वारा पुष्टिमार्गीओके लिये उपदिष्ट पुष्टिप्रणालीसे विपरीत कथा है. इस विषयमें किसी वल्लभवंशजके वचन या अभिप्राय को आचार्यवचनातिशय माननेका कोई प्रसंग नहीं उपस्थित होता.

तन्त्रोक्त पूजाप्रणालीमें प्रतिमाके अनेक प्रकारभेदमें एक प्रभेद : स्वयम्भु और कृत्रिम होनेका माना गया है. इसमें स्वयम्भु प्रतिमाको देवतया प्रतिष्ठाकर्मके अनुष्ठानकी अपेक्षा नही होती जबकि कृत्रिमके प्रतिमाके बारेमें वह स्वीकारी गयी है. इसके अलावा पूजनविधि या उसमे होते स्खलनके कारण पुन: यथाविधि पूजनारम्भ या पुन: प्रतिष्ठाविधान का प्रावधान तो शक्य है अन्य कुछ नहीं.

अत: अवतारकालीन स्वरूपकी लीलाके प्रभेदवश जैसे भगवानके साथमें प्रकट परिकरका प्रभेद होता है, वैसे ही अनवतारकालीन भगवदाराधनामें आराधकोंके भावोंके प्रभेदक भगवत्स्वरूपोंकी आराधनाप्रकारमें प्रभेद हो जाता है, तत्प्रयुक्त आराध्य देवताओंके भी स्वरूपमें औपाधिक प्रभेद तो हो सकता है, **"मल्लानामशनि: नृणां नरवर"**(भाग.पुरा.१०।४०।१७) न्यायेन तावता उपाधिनिरपेक्ष स्वरूपभेदकी धारणा तो भ्रान्तिमूलक ही

है.

तन्त्रोक्त प्रणालीमें स्वयम्भु और कृत्रिम दोनो तरहकी मूर्तिओंके प्रभेदके पुनः स्वार्थ और परार्थ प्रतिष्ठा के अवान्तर प्रभेदवश देवमूर्तिओंके

१.स्वयम्भु स्वार्थप्रतिष्ठापित देव
२.स्वयम्भु परार्थप्रतिष्ठापित देव
३.कृत्रिम स्वार्थप्रतिष्ठापित देव
४.कृत्रिम परार्थप्रतिष्ठापित देव

यों पुनः चार प्रकारकी पूजाराधनाकी प्रणाली बन जाती हैं. तन्त्रशास्त्रमे स्वार्थ = दारागार पुत्र वित्त भूमि भवन उद्यान धान्य वस्त्रालंकार परिवार भृत्य गो महिष अश्वादि पदार्थोंके आराधनार्थ उपयोगकी प्रणाली देवमूर्तिको स्वार्थप्रतिष्ठार्थ सिद्ध करती है. जबकि अन्यथा परार्थ = यही सारी सामग्री स्वयंकी न होने पर अपनी देवमूर्तिकी परार्थप्रतिष्ठा मानी जाती है. अतः चारों प्रकारके नियमोंवाली देवप्रतिष्ठाओंके इन प्रभेदोंके कारण किसी देवमूर्तिका श्रीकृष्ण राम शिव दुर्गा गणपति की देवमूर्ति होना वस्तुगत होता है जबकि उक्त चारोमेंसे किसी एक प्रकारसे प्रतिष्ठापित होना वस्तुगत न होकर प्रतिष्ठापक-आराधक के भावात्मक संकल्प और तदनुकूल आराधककी रीति पर निर्भर माना गया है. मूर्तिरूप देवताके वस्तुतः परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम होना या विभूतिरूप होनेके प्रभेदपर नहीं. क्योंकि यह प्रभेद तो उस आराधनाके सकाम या निष्काम होनेपर अवलम्बित है. अब महाप्रभु और प्रभुचरण भी उसका खुलासा यों देते हैं:

"कर्ममार्गे प्रवक्ष्यामि भ्रान्तानां बहुशः फलम्"
सर्वत्रैव जगति फलं वर्तत इति सर्वत्र फलं
साधनं चाह कर्ममार्गः॥
"तत्तदेवोपासकानाम् आजन्मोपासने फलम् तत्त-

त्सायुज्यरूपादिवेदोक्तानामनेकधा...पौराणिकानां
च तथा
कृपयाऽधमतां प्राप्य भक्तं वै मोचयेत् क्वचित्।
अनियुक्ततपस्यानां पीडया क्रोधतः क्वचित्॥
हीनभावं नयत्येष दुष्टं वा मोचयेत् क्वचित्।
कर्मणो ह्यपि बोधव्यं बोधव्यं च विकर्मणः॥
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।
अतश्च सुतरामेव कर्ममार्गो दुरत्ययः॥
अतोऽपि भजनं कार्यं भजनेन हि तादृशम्"।
भगवदिच्छाभावेऽपि भजने भजनमेव परं न निर्वहेत्,
न त्वनिष्टं किञ्चित्॥

(त.दी.नि.२।२५६-२७१)

इतनी जटिलताके बावजूद एक अतीव महत्त्वपूर्ण तथ्य इसमें यही ध्यातव्य है कि स्वार्थ भगवदाराधनमें स्वीय सभी सेवामें नियोज्य अधिकारी माने जाते हैं प्रत्येक नहीं. जबकि परार्थ आराधनामें प्रत्येक परजन प्रत्येकतया नियोज्य अधिकारी होता है स्वार्थ नहीं. अतएव स्वस्वीयके विनियोगार्थ प्रवृत्त आराधनामें प्रत्येकमेसे कोई सकाम या निष्काम, स्वभाववश हो सकता है, परन्तु आराधनाको आजीविका उपार्जित करनेका उपाय नहीं बना सकता. परन्तु परार्थप्रतिष्ठापित अपने देवविग्रहोंकी आराधनामें परकीय कोईभी भगवदाराधनार्थ अपनी द्रव्यादि सामग्रीका विनियोग कर सकता है परन्तु एतावता देवमूर्ति न तो उसकी हो जाती है और न जिसकी है वो परकीय देवाराधनार्थ प्रयुक्तसामग्रीमें लाभग्राही बन सकता है. दत्तापहार दोष अर्थात् देवद्रव्यापहारीको देवलक अशुचि माना गया होने से. इसमे देवमूर्तिके परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम होने या न होनेसे कुछभी अन्तर नहीं पड़ता.

प्रभुचरण तो और भी स्पष्ट करते हुवे इस मुद्देकी विवेचना

यों करते हैं :

''जीवमात्रस्य भगवान् पतिः... जीवमात्रस्य भगवद्भजनम् इष्टम् द्रष्टसाधनञ्च इति अंगीकार्यम्. तत् श्रवणादिरूपम् एवं सति भगवानिव तन्नामादिकमपि सर्वान् प्रति अविशिष्टम् इति... एवं सति तदधिष्ठातृरूपस्य पुरुषोत्तमत्वे पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतिन्यायेन सर्वान् प्रति भजनीयत्वेन अविशिष्टं स्याद् नतु तया इति अन्यथानुपपत्त्यैव तत्पुरुषोत्तमस्य विभूतिरूपं भिन्नमेव इति मन्तव्यम्.. भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वं, भक्तौ च न तत्स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्. अत्र वदामः श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपसनाभक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति. तथाहि नामादिश्रवणकीर्तनयोः फलत्वेन चत्वारोऽप्यर्थाः उच्यन्ते. तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयएव. तत्रापि अर्थार्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा. वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिकएव शौचार्थिगंगास्पर्शवच्च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि.... प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः भक्तिमार्गे 'मर्यादाभक्ति'इति उच्यते.... स्नेहोत्पत्त्यन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणः उत्तमपुष्टिभक्तिरूपः.... अथवा साक्षात् पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन विहितत्वं 'भक्ति'पदप्रवृत्तिनिमितं श्रवणादिषु भिन्नम्'' (भक्तिहंस). अतएव अवतारकालीन स्वस्वरूपोंमें भी लीलार्थ वस्तुभेदवश पुष्टिमर्यादाप्रवाहसृष्टिभेद प्रकट होता है. सृष्टिभेदवशात् साधनाका भेद, साधनाके भेदवशात् ही औपाधिक स्वरूपभेद भी तत्तत् साधनाओंद्वारा उद्देश्यत्वेन या प्राप्यत्वेन स्वरूपभेद होता है. नकि स्वरूपभेदवशात् साधनाका भेद, स्वरूपके तो अखण्डाद्वैतरूप होनेके कारण ही. अतः विभिन्न अधिकारी और विभन्न साधना या भावोंके भिन्न रहनेपर भी भावस्वरूपमें औपाधिकभेद न स्वीकारना या भगवत्स्वरूपके निरूपाधिक अभेदवशात् तदुद्देश्यक या तत्प्रापक आराधानाके प्रकारोंमें भेद न मानना साकारब्रह्मवादमूलक पुष्टिभक्तिके मौलिक स्वरूपके बारेमें नितान्त अज्ञान ही प्रकट करता है. ऐसा नहीं मानते तो **''येऽपि अन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः**

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्ति अविधिपूर्वकम्'' (भग.गीता.९।२३) भगवद्वचन बाधित हो जायेगा!

अतः इन जगन्नाथादि देवालयप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपोंको स्वतः अपुरुषोत्तमात्मक या मर्यादारूपात्मक या विभूतिरूप मानना और केवल श्रीनाथजीको ही अपवादरूपेण साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तम माननेपर या तो इनके भजन-पूजनादि अन्याश्रय माननेमें पर्यवसित होंगे या श्रीनाथजीमें भी अपुष्टिमार्गीय स्वसर्वस्व दारागारादिके निवेदन समर्पण विनियोगसे रहित की जाती सेवाप्रणालीको श्रीजीके अपुष्टिमार्गीय होनेका प्रमाण माननी पड़ेगी. सिद्धांत जबकि स्वरूपतः पुरुषोत्तमका स्वरूप अविशिष्ट होनेपरभी साधनाभेदकृत औपाधिक भेदवाला बनता है. और इन भगवत्सांनिध्य स्थलोंको पुष्टिभक्तिके अनुकल्पतया आश्रणीय माना गया है. अतः न तो अन्याश्रयकी संभावना है और न इनसे किसी तरहके विलक्षण पुरुषोत्तम होनेकी श्रीनाथजीमें सैद्धान्तिक अपरिहार्यता है.

अतएव श्रीनाथजी वार्तामें इन जगदुद्धारक जगन्नाथादि देवालयोके मध्यमें श्रीजीका बिराजनेका मतलब उनके द्वारा भी मिलते फलसे अतिशायी कोई फल देनेके रूपमें जो बिरदाया जा रहा है, वह श्रीजीके प्रति निश्चल भक्तिभावसे प्रेरित न होकर उन श्रीजगन्नाथ आदिकी प्रसिद्धिके साथ निगूढ़ प्रतिस्पर्धाके भावको उघाडा पाड़ रहा है. अन्यथा उनके साथ श्रीजीकी परिगणना भी पुष्टिभक्तिरीतिके प्रमुख कल्पतया न रह अनुकल्पतया माननेकी बात गले पड़ेगी. वस्तुतस्तु जो वचन एतदर्थ गर्गसंहिताका उद्धृत किया है वहां उस तरहका वचन उपलब्ध होता ही नहीं. खेमराज मुद्रालयद्वारा वि.२०१३के संस्करण अर्थात् आजसे साठेक वर्ष पूर्व.

(अपार्थकयुक्ति २)

श्रीहरिरायजीमहाप्रभुजी रचित श्रीनाथजीकी प्राकट्य वार्ताके प्रारंभमें

ही गर्गसंहिताके गिरिराज खंडके सातवें अध्यायके प्रमाणके आधारपर श्रीनाथजीके प्राकट्यकी कथाका वर्णन है.

(निराकरण २)

इस तरहके भाषासाहित्यके बारेमें अपार्थकयुक्तिकारके पूर्वज श्रीगोविन्दप्रभु (कामां) अपने उपदेशसुधामें स्पष्ट कहते हैं "**स्वाचार्यैः = श्रीविट्ठलेशैः तथा श्रीपुरुषोत्तमैः कृतान् श्रीहरिरायाद्यैः ग्रन्थान् श्रीद्वारकेश्वरैः संस्कृतान् प्राकृतान् पश्येत्... तदनुसारेण विचारेण सुचारुणा... मूलग्रन्थाऽविरुद्धोंऽशो भाषाग्रन्थेषु दृश्यते मान्यो, न अन्योऽत्र मान्यो हि ज्ञेयो असौ धूर्तकल्पितः**" (उ.सु.१६१ - १६४). उनके आत्मज देवकीनन्दनजी (कामां)का : "**केवल प्राकृत ग्रन्थनके उपर अवलम्बन न करनो. कारण मैंने(गोवर्धनदासने) प्रथम - प्रथम चौरासी वैष्णव और दोसौबावन वैष्णवन्की वार्ता छपवायको विचार कर गोस्वामिवर्य आचार्यकी सम्मति पूछी. तब उनने आज्ञा करी जो प्रथम तो यह वार्ता ठीक हती परन्तु पाछेंते लेखकने अपनी लिखाईके लोभसूं मनमें आवे तैसो गपोड़ा लिख-लिख पुस्तक बढ़ाये ग्रन्थ बड़े-बड़े कर केवल द्रव्य उपजायवेकी साधन कर दिये हैं. तद्वत् जैसे उन गपोड़ान्को भरोसो नाहि राख्यो जाय... और टीकाकार अपनो ही टट्टु चलावे है सो ग्रन्थको रूपान्तर होय एकको दूसरो सिद्धान्त होय जाये. तातें संस्कृत पढ़नो ही ठीक है. एसी आज्ञा सुनते ही मैंने वो ग्रन्थ छपायवेको मनोरथ छोड़ दियौ** [बृहत्स्तोत्रसरित्सागरके प्रथम संस्करण सं.१९४१के प्रकाशक गोर्वधनदास लक्ष्मीदासकी भूमिका पृ.११). इसपर तत्कालीन देवकीनन्दनाचार्य(कामां) जीवनलालजी(काशी) जीवनेशाचार्य(पोरबन्दर) श्रीविट्ठलेश(पोरबन्दर) श्रीघनश्यामलाल(मुम्बई) नन्दकुमारशास्त्री गट्टुलालजी आदि की सम्मति युक्त प्रकाशनार्थ आज्ञापत्र सहमुद्रित है].

इसके अलावा उक्त प्राकट्यवार्तामें उल्लेख मिलता है कि श्रीजीके जतिपुराके मन्दिरमें औरंगज़ेब खुद दाढ़ीसे बुहारी काढ़ने आता था.

इसपर प्रसन्न होकर श्रीजीने उसे आज्ञा दी महाप्रभुजी यहां पधरा गये हैं अतः वल्लभवंशज गोस्वामी तो मुझे यहांसे अन्यत्र पधरायेंगे नहीं सो इस मन्दिरको तोड़नेका उपक्रम करो. तो अपने आप मुझे अन्यत्र पधरायके ले जायेंगे.

इस गपोड़ाका टट्टु दौड़ानेसे पहले इतनी सावधानी भी नहीं रखी गयी कि स्वयं इस वार्ताके अनुसार जब गंगाबाईके साथ श्रीनाथजी बोलते ही हों तो उसके द्वारा आज्ञा क्यों नहीं दी? क्यों महाप्रभुजीकी आज्ञासे जो श्रीजीकी आज्ञाके पालनार्थ दी थी उस मन्दिरको तुड़वानेकी आवश्यकता पड़ी? यदि इसे सच मानें तो भी केवल जतिपुराका ही मन्दिर तोड़ना था श्रीकृष्णजन्मस्थलमन्दिर विश्वनाथमन्दिर आदि अनेकानेक मन्दिर तो नहीं. क्यों एकलिंगजी और श्रीनाथजी का नाथद्वारा स्थित मन्दिर तोड़ने औरंगज़ेब गया? जब श्रीनाथजी उसके साथ बोलते थे तो क्यों नहीं कह दिया कि और मन्दिर मत तोड़ो. आकाश उड़के आनेकी आदि बातें तो सब निरी बचकानी बातें हास्यास्पद ही हैं. महाप्रभुजीका मन्दिर खुद श्रीनाथजीकी आज्ञासे तुड़वानेकी बातपर खुद इसका प्रमाण क्यों नहीं मान लेनी चाहिये कि देवालयकी स्वयं कि आज्ञाको श्रीनाथजी खुद तोड़ना चाहते थे? और "**बाधनं वा हरीच्छया**" न्यायसे वो देवालयप्रकार बाधित कर दिया! बादमें यदि गंगाबाईको दी आज्ञाके आधारपर देवालयकी बात करते है तो महाप्रभुजीकी कानी तुटनेके बाद महाप्रभुजीके नहीं गंगाबाईके स्वरूप मानने पड़ेंगे.

इसके अलावा भी इस विषयमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कुछ तथ्य सावधानीके साथ समझ लेने अतीव आवश्यक हैं जैसे कि हम पहले भी कह चुके हैं. यथा :

"**'सब श्रीवल्लभकुलके बालकन्कुं और भगवदीय वैष्णवन्कुं हाथ जोड़के विनती करूं हूं जो दोसोबावन**

वैष्णवन्‌की वार्तान्‌की मैंने पचास एक प्रत जन्म आखामें बंचायके सुनी है. परन्तु कोईभी संगति सरखी मिलती देखी नहीं. जासुं मैंनें गोस्वामी श्रीगोविन्दलालजी कामवनवाले और गोस्वामी श्रीद्वारकानाथजी जूनागढ़वाले और परम वैष्णव मथुरादास भट्टजी और बिहारीदास चौबे और लक्ष्मीदास भंडारीजी और ठक्कर धनजी दामोदर के मुंखसूं जे बातें सुनी हैं सो वार्ता दोसोबावनकी शोधके मैनें छपाई हैं. कोई ठिकाणे भूलचूक होवे सो क्षमा करेंगे, और अशुद्ध होवे सो शोध सुधार लेवेंगे. संवत् १९६२ मार्गशीर्ष ७ सोमवार शके १८२७' इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रित वार्ताओंमें प्राचीन प्रतियोंका सम्पूर्ण अनुसरण नहीं हुआ है. अतः उसमें लीलात्मक वार्ता प्रतिका सम्पूर्ण अनुसरणवाली मूलवार्ताकी हस्तप्रतिकी ३५ वार्ताओंका तारतम्य मिलता है... वचनामृतोंमें खोज करनेपर उनमें ये वार्ताओंके प्रसंग मिलते हैं किन्तु दृष्टान्तके रूपमें या कहानी के रूपमें सामान्य सिद्धान्तको स्पष्ट करनेके वास्ते. जैसा कि 'प्रभु करें सो सब आछी ही करें हैं' ऐसे वैष्णवन्‌को विचार के निश्चिंत रहनो. यापर एक बात कहियत है : एक राजा हतो... इससे वचनामृतकी बत्तीस लक्षणा राजाकी सामान्य वार्ताको २५२ वै.की वार्तामें संकलनकर्ताने वार्ता मान कर स्थान दिया है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है. इसी प्रकारसे लीलात्मक वार्तावार्तामें अप्राप्य ऐसी सभी वार्ताओंका संकलन भी इन्हीं वचनामृतोंसे किया गया है''.

('२५२ वै.वा.का विश्ले.अध्य.'पृ.२९ सम्पा.आमु.श्रीद्वार.परी.).

खैर यह दुरवस्था तो आद्य प्रकाशित संस्करणकी थी परन्तु उसके बाद वि.सं. २०१० अर्थात् ४८ वर्ष बाद बड़ौदासे श्रीद्वारकादासभाई

द्वारा प्रकाशित संस्करणकी भी इससे अलग नहीं है. क्योंकि द्वितीय संस्करणकी भी आधारभूत प्रतियोंका वास्तविक स्वरूप स्वयं सम्पादककी लेखिनीद्वारा यों प्रस्तुत हुवा है :

> ''हमको आज तक वि.सं.१८०४ के पूर्वकी २५२ वै.की वार्ताकी कोई प्रति प्राप्त नहीं हुयी है... किन्तु २५२ वै.की वार्ता को वे (चतुर्थात्मज गोकुलनाथजी) सम्पूर्ण प्रकट कदाचित् नहीं कर सके थे. इसीलिये उनकी पूर्तिमें संकलनकर्ताओंने अपनी-अपनी समझके अनुसार इन वचनामृतोंकी पोथियोंमेंसे विभिन्न वचनामृतोंको शेष वार्ताओंका रूप दे कर २५२ संख्याकी पूर्ति की है''.
>
> (वहीं पृ.२८-२९).

(अपार्थकयुक्ति ३)

जहां गोवर्धनपर रासमें श्रीराधाजीने शृंगार धारण किया था, वह स्थान 'शृंगार मण्डल'के नाम से प्रसिद्ध हुआ. श्रीकृष्णने जिस रूपसे गोवर्धन पर्वतको धारण किया था, उनका वही रूप शृंगार मण्डल (तीर्थ)में विद्यमान हैं. जब कलियुगके चार हजार आठसौ वर्ष बीत जायेंगे, तब शृंगार मण्डल क्षेत्रमें श्रीगिरिराजजीकी गुफाके मध्यभागमें सबके देखते-देखते श्रीहरिका स्वतःसिद्धरूप प्रकट होगा. देवताओंका अभिमान तोड़नेवाले उस स्वरूपको सज्जन पुरुष 'श्रीनाथजी'के नामसे पुकारेंगे. गोवर्धनपर्वत पर श्रीनाथजी सदा ही लीला करते है. कलियुगमें जो लोग अपने नेत्रोंसे श्रीनाथजीके स्वरूपका दर्शन करेंगे वे कृतार्थ हो जायेंगे.

(निराकरण ३)

गर्गसंहिताका प्रामाण्य न तो तत्त्वार्थदीपके शास्त्रार्थ सर्वनिर्णय या भागवतार्थ प्रकरणमें मान्य किया गया हैं प्रत्युत भागवतोक्त लीलासे विपरीत कृष्णलीला उसमें वर्णित हुई सो ''एतद्‌विरुद्धं यत् सर्वं न

तन्मानं कथञ्चन'' (त.दी.नि.१।८) न्यायसे उसे अप्रमाण ही माननी चाहिये. स्वयं उसमें भी भागवतार्थके गोपनार्थ वह लिखी गयी है ऐसा **''ब्रह्मन् यथा भागवतं गोपयिष्यामि अहं तथा त्वत्कृतं श्रावयिष्यामि बहुलाश्वाय भूभृते''** (गर्गसं.माहा.१।२६) यह तो दिखला ही चुके हैं. अत: श्रीभागवतगूढ़ार्थप्रकाशनपरायण महाप्रभुके सम्प्रदायमें भागवतोक्त भगवल्लीलाके गोपनार्थ प्रकट हुई संहिताका प्रामाण्य कैसे मान्य हो सकता है? अत: सिद्ध होता है कि यह गर्गाचार्यजीद्वारा लिखित न हो कर उनके नामसे किसी धूर्तने अपने गपोड़ाका टट्टु चलाना चाहा है. इसमें यह भी उल्लेख मिलता है कि कलियुगमें विष्णुस्वामी निम्बार्क रामानुज और माध्व यों चार वैष्णव सम्प्रदाय होंगे. इनके बहार ली जाती सारी दीक्षा निष्फल है. महाप्रभुजी सुबोधिनीमें आज्ञा करते है विष्णुस्वामी माध्व रामानुज ये तो तामस राजस सात्त्विक सम्प्रदाय जैसे भगवत्प्रवर्तित हैं वैसे ही मेरा निर्गुणभक्तिमार्ग भी भगवत्प्रवर्तित है. यों देखा जा सकता है गर्गसंहिता सच्ची हो तो महाप्रभुका निर्गुणभक्तिसम्प्रदाय निष्फल सिद्ध होता है. भागवतसुबोधिनीका यह विधान सच्चा हो तो गर्गसंहितावचन मिथ्या सिद्ध होता है. आधुनिक वल्लभवंशजोंका यह दुर्भाग्य है कि उन्हे भागवतसुबोधिनीके बजाय गर्गसंहिता अधिक प्रामाणिक लग रही है! इस गर्गसंहितामें श्रीशंकराचार्यकी प्रसिद्ध षट्पदीका महादेवजीद्वारा की गयी स्तुतिके बारेमें एक गपोड़ाका टट्टु भी चलाया गया है! अत: इसकी कथा प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती और उसपर आधारित होनेके कारण श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्ताका प्रमाण होना भी स्वत: खण्डित हो जाता है. **''पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिण जगन्नाथ द्वारकानाथ रंगनाथ और बद्रिनाथ के दर्शन करके मध्यवर्ती गोवर्धननाथके दर्शन नहीं करता उसे यात्राका फल नहीं मिलता''** यह विधान भी महाप्रभुके **''जगन्नाथे पांडुरंगे श्रीरंगे वैकंटे तथा''** (त.दी.नि.२।२५५) तथा श्रीगोपीनाथजीके **''जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले यत्र पूजाप्रवाह: स्यात् तत्र तिष्ठेत् च तत्पर:''** (साध.दीपि.३६) से विरुद्ध जाता है. क्योंकि इन वचनोंमें वहीं निवासकी आज्ञा दी

जा रही है जो मध्यवर्ती श्रीगोवर्धननाथजीके दर्शनके निष्फलताकी बिभीषिकासे रहित है. यदि यह इतना अनिवार्य होता तो **''श्रीरंगे गोवर्धने तथा''** पाठ होना चाहिये था. व्रजमण्डलमें तो अन्य भी अनेक पूजाप्रवाहके देवालयोंके समीप दर्शन पूजादिके निर्वाहार्थ 'निवास'शब्द होनेसे अभिप्रेतार्थ सिद्ध नहीं हो रहा है. खेमराजी संस्करणमें यह श्लोक भी सहमुद्रित नहीं है. अत: इन चार स्थानोंकी दिव्यताके साथ प्रतिस्पर्धावश योजित श्लोक लग रहा है, भक्तिभावके उद्बोधनार्थ नहीं.

(अपार्थकयुक्ति ४)

श्रीनाथजीकी प्राकट्य वार्तामें यह उल्लेख हुआ है कि जब श्रीनाथजीका मंदिर सिद्ध कराया जा रहा था तब श्रीनाथजीके मंदिरका नक्शा श्रीमहाप्रभुजीके अभिलषित प्रकार नंदालय (गृह)रूपमें न होकर ध्वजा-कलश-शिखरके रूपमें अपने आप श्रीनाथजीकी इच्छासे ही हो रहा था, तब स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने सेवक दामोदरदास हरसानिजीको यह आज्ञा दी थी कि जो श्रीनाथजीकी आज्ञा शिखर मंदिरपे बिराजवेकी हैं, तातें कोई काल या मंदिरमें बिराजेंगे ता पाछे यवनको उपद्रव होयगो तब और देशमें श्रीजी पधारेंगे और कोई काल तहां बिराजेंगे. पाछे व्रजमें फेर पधारेंगे तब पूंछरीकी और पृथ्वीपे मंदिर बनेगो. श्रीगिरिराजके तीन शिखर है आदिशिखर, ब्रह्मशिखर और देवशिखर. तामेंसूं पहिले श्रीकृष्णावतारमें आदिशिखरपे क्रीड़ा करी, मध्यमें देवशिखर पर क्रीड़ा अब करत है और क्रीडाके अवसान समयमें ब्रह्मशिखर पर क्रीड़ा करेंगे. आप श्रीगोवर्धननाथजी है तातें सदा श्रीगोवर्धन ऊपर क्रीड़ा करत हैं.

(निराकरण ४)

ये समूचा गपोड़ाका टट्टु चलाया जा रहा है. कथंचित् जो खुदको करना था उसमें महाप्रभुजीकी सम्मति दिखानेके नाटकार्थ. अन्यथा ये बात चौरासी वैष्णवनकी वार्तामें क्यों नहीं कही गई? जो तीसरी

पेढ़ीपर महाप्रभुजीके जो पौत्र गोकुलनाथजीने नहीं कही वो बात छट्ठी - सातवी पीढ़ीपर अकस्मात कैसे पता चली? इतिहासके नाम पर यह गप्प चलानी अवश्य थी सो श्रीनाथप्राकट्यवार्ताका गोकुलनाथजी और हरिरायजी में संग्रह करके लिखी जा रही है विधान कर दिया. वस्तुतः वहां वे उपलब्ध न होती हो तो संग्रहकारका चलाया गपोड़ाका टट्टु ही सिद्ध होगा. अतः किसी प्राचीन बालकने भी गपोड़ाका टट्टु चलाया गया मानकर उद्धृत किया हो तो वो कथा अलग है.

(अपार्थकयुक्ति ५)

"आप श्रीगोर्वधननाथजी हैं तातें सदा श्रीगोर्वधन ऊपर क्रीड़ा करत हैं" (उद्धृत.श्रीनाथ.प्रा.वा.)

(निराकरण ५)

'सदा'का मतलब द्वापरमें भी या भूतकाल वर्तमानकाल और भविष्यकाल यों तीनों काल लेना? वह भी सर्वोद्धारकरूपेण या भक्तोद्धारकरूपेण? भक्तोद्धारकरूप तो भक्तोंके हृदयमें सर्वदा बिराज सकता है, उसे गोवर्धनपर्वतकी अपेक्षा नहीं रहती. अन्यथा अजबकुंवरीको दर्शन देने सिंहाड़ कैसे पधारते? यदि सर्वोद्धारकरूपेण स्वीकारते हैं तो तो पूंछरीपर शाकघरिया बाबा और गुरुशरणानन्दजी ने एक स्वरूप पधरा ही दिया है गोवर्धननाथजीका. सो महाप्रभुजीकी भविष्यवाणीकी सच्चाईके आधारपर अब वहीं बिराजते मानने चाहियें नाथद्वारामें नहीं. यदि उन दोनोंके वल्लभसम्प्रदायसे बहिर्भूत होनेके कारण उनके द्वारा पधरायी गई मूर्ति परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण की पुष्टिपुरुषोत्तम नहीं ऐसा मानें तो, वल्लभसम्प्रदायके प्रादुर्भावसे पूर्व आदिशिखर विराजती मूर्तिको भी अपुष्टिमार्गीय स्वीकारना पड़ेगा. यदि आधुनिक पूंछरीमें बिराजमान गोवर्धननाथजीकी मूर्ति स्वयम्भु नहीं है. अतः उसे पुष्टिपुरुषोत्तम न मानें तो स्वयं श्रीजीके प्राकट्यवार्ताके अनुसार **"श्रीनाथजीकी रक्षा करनेको चार व्यूहन्को प्राकट्य श्रीगिरिराजमेंते आपके संग ही भयो.**

जो संकर्षणकुण्डमेंते संकर्षणदेवको, गोविन्दकुण्डमें गोविन्ददेवजी और दानघाटी ऊपर श्रीदानीरायजीको प्राकट्य भयो. श्रीकुण्डमेंते श्रीहरिदेवजीको प्राकट्य. सो सदा श्रीनाथजीके संग रक्षार्थ रहत हें. इनकी सेवा मतान्तरमें के वैष्णव करत हें. मध्यमें पुरुषोत्तमरूप आप बिराजत हें ताहीतें आपकी सेवा करिवेके लिये श्रीपुरुषोत्तमरूप श्रीआचार्यजी प्रकट भये हैं" (वहींपृ.११-१२). सदा रक्षार्थ चार व्यूह श्रीजीके साथ बिराजते ही हों तो उनकी भी आचार्यचरण सेवा करते ही होंगे. सर्वोद्धारक मूर्तियोंके मतान्तर लोग करते हों उनको सर्वोद्धारक मूर्तिस्वरूपकी मतान्तरीय भक्तोंसे सेव्य होनेके कारण अपुष्टिमार्गीयता लगती हो तो श्रीजीकी भी आयेगी. वृन्दावनमें भी कितनी सारी भगवन्मूर्ति श्रीकृष्णकी स्वयम्भु प्रकट हुई हैं उन्हें भी पुष्टिपुरुषोत्तम मानना पड़ेगा, व्रजमण्डलमें बिराजमान भगवन्मूर्तिके व्रजाधीशसे तादात्म्यके कारण. यदि किसी कारण यह सच होनेपर भी पुष्टिसम्प्रदायके वैष्णव वहां सेवा नहीं कर रहे हैं इस आधारपर उन्हें 'अपुष्टिमार्गीय' कहा जाये तो जब अपुष्टिमार्गीय बंगाली श्रीनाथजीकी सेवा करते थे तब उनको भी अपुष्टिमार्गीय मानना पड़ेगा. यदि उन्हें गिरिराजशिलासे निर्मित न होनेके कारण अपुष्टिमार्गीय माना जाता हो तो द्वापरलीलासे पहले जब गिरिराजजी व्रजमें नहीं बिराजते थे तबवाली शिलासे निर्मित मानते हैं तो तब तो गिरिराजजी पुरुषोत्तमात्मक नहीं थे सो उस शिलासे निर्मित स्वरूप भी पुरुषोत्तमात्मक नहीं सिद्ध होगा. और इन्द्रमानभंगलीलाके प्रसंगमें प्रभुने अपना द्वितीय पूजनीय स्वरूप गिरिराजजीमें से प्रकट किया ऐसा मानते हैं वह तो भक्तोद्धारक स्वरूप ही था, प्रस्तुत सर्वोद्धारक नहीं. दोनोंमें अभेद माननेका आग्रह रखा जाये तो भेद मानकर जो अजबकुंवरीकी वार्ताकी उपपत्ति खोजी जा रही है वह निरस्त हो जायेगी. दूसरी बात दानघाटी पर, जतिपुरामें तथा सुरभीकुण्डपर बिराजते गिरिराजनिर्मित स्वरूपोंको भी तब पुष्टिपुरुषोत्तम क्यों नहीं स्वीकारा जाता? यदि वहां वे बिन अवल्लभवंशज गोस्वामिओंको ठेकेपर उठाये जानेके कारण तथा केवल वैसी तरह शृंगारित तथा सेवित होनेपर भी स्वयम्भु नहीं, तो वर्तमानमें

जो व्यापारीकरण नाथद्वारामें श्रीनाथजीके स्वरूपका भी वैसा ही हुआ सो फर्क कैसे पड़ेगा?

यदि कहा जाय कि यहां तो श्रीनाथजीकी देवालयमें पूजा कर सर्वोद्धार या जगदुद्धार करनेकी इच्छाके कारण ऐसा मानना आवश्यक है. तो वह तो इनके बारेमें नहीं मिलती. वो इच्छा तो श्रीनाथजीने अपने उस मन्दिरको तुड़वाकर खुद ही निरस्त कर दी तो अब वहां भी मानी नहीं जा सकती. यदि बादमें महाप्रभुजीके अलावा श्रीनाथजीकी आज्ञाओंके कारण ऐसा मानते हैं, उनमें महाप्रभुजी - प्रभुचरणकी इच्छा - मनोरथका बाधन करके वो आज्ञायें दी गई होनेसे अपुष्टिमार्गीय क्यों नहीं माननी? यदि श्रीनाथजीके स्वयम्भु पुष्टिपुरुषोत्तम होनेके कारण बादमें भी दी आज्ञा पुष्टिमार्गीय ही होंगी ऐसा मानते हैं तो कई स्वयम्भु जो मूर्ति म्लेच्छोंद्वारा खण्डित कर यत्र तत्र काबा या बूचड़खाने आदिमें जमीनमें गाड़ दी गई उनकोंभी बावजूद ऐसे दुर्व्यवहारके वश मर्यादापुरुषोत्तम या मर्यादादेव क्यों नहीं मानना? उदाहरणतया चरणाद्रिके पर्वतपर वामन भगवानके चरण वर्तमानमें दरगाहमें बिराज रहे हैं. यदि नहीं तो पुष्टिपुरुषोत्तमको भी स्वयंभु होनेके कारण पुष्टिपुरुषोत्तम हर अवस्थामें कैसे स्वीकारा जा सकता है? शालिग्रामजी तो स्वयम्भु मानें जाते है अपने यहां पुष्टिपुरुषोत्तमात्मना, जन्माष्टमी आदिमें पंचामृत आत्मनिवेदनमन्त्रके साथ तुलसीसमर्पण आदि की सेवा होनेके कारण उस तरह बिराजते भी हैं पर उन्हें सोनीकी दुकानपर कसोटीके पथ्थरकी तरह जब वापरे जाते हों तब भी क्या पुष्टिपुरुषोत्तमात्मना स्वीकारना?

(अपार्थकयुक्ति ६)

श्रीमहाप्रभुजी शास्त्रार्थ निबंधके प्रकाशटीकाके मंगलाचरणमें आज्ञा करते हैं कि **''सर्वोद्धार - प्रयत्नात्मा कृष्ण प्रादुर्बभूव ह''** अर्थात् सबके उद्धारके लिये प्रयत्नशील अथवा जिससे सबका उद्धार हो जाये इस प्रकारका प्रयत्न करनेवाले भगवान, श्रीकृष्ण रूपमें स्वरूपतः प्रादुर्भूत

हुवे, जिससे सभी लोग उनका दर्शन कर सके एवं सभीका उद्धार हो सके. श्रीमहाप्रभुजीके दामोदरदास हरसानिजीके प्रति वचनामृतसे यही बात सिद्ध होती है कि पूर्णपुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण ही पुनः इस कलियुगमें सभी दैवीजीवों(पुष्टि एवं मर्यादा)का उद्धार करनेके लिये श्रीनाथजीके रूपमें प्रादुर्भूत हुवे हैं. पहले कृष्णावतारमें प्रभुने श्रीगोवर्धनपर्वतके आदि शिखर पर क्रीड़ा की थी, किन्तु अब इस कलियुगमें श्रीकृष्णने ही श्रीनाथजीके रूपमें श्रीगोवर्धनपर्वतके देवशिखर पर श्रीमहाप्रभुजी एवं श्रीगुसांईजी के अवतारकालमें क्रीड़ा की. वर्तमान समयमें श्रीनाथजी मेवाड़ राजस्थानमें नाथद्वारा(पूर्वनाम सिंहाड़) गांवमें बिराज रहे हैं. श्रीमहाप्रभुजीके दामोदरदास हरसानिजीके प्रति वचनामृत अनुसार श्रीजीकी श्रीगोवर्धनपर्वतके ब्रह्मशिखर पर क्रीड़ा अभी बाकी है. अतः भविष्यमें फिरसे श्रीगोवर्धनपर्वतके ब्रह्मशिखर पर श्रीनाथजी क्रीड़ा करेंगे. श्रीनाथजी पुष्टि एवं मर्यादा सभी दैवीजीवोंका उद्धार करनेके लिये देवालयमें बिराजे हैं.

(निराकरण ६)

''सर्वोद्धार - प्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह''... ऐसे श्रीकृष्णका स्वरूप क्या अन्यान्य घरोंमें बिराजते प्रभु नहीं हैं? स्वयं अपार्थकयुक्तिदाताके सेव्यस्वरूप क्या सर्वोद्धारक कृष्णका स्वरूप नहीं है? यदि न हो तो अन्याश्रयका दोष ऐसे स्वरूपकी सेवाके कारण लग रहा है. यदि हो तो यह विशेषता श्रीनाथजी सर्वोद्धारक होनेकी हेतुभूत नहीं रह जायेगी 'प्रकट करने'का मतलब देवालय सिद्ध करवाकर पाटपर बिराजवाना यही केवल हो तो वो तो अनेकानेक स्वरूपोंको गृहसेवार्थ भी पधराया था तो कोई विशेषता प्रकट नहीं होगी. सार्वजनिक परार्थ देवालयके अर्थमें परार्थ प्रतिष्ठापित देवविग्रहकी सेवापूजाके स्वार्थ सम्पदाके विनियोगके समय देवविग्रहार्थ और देवविग्रहार्चनार्थ प्रभेद तो स्वीकारना ही पड़ेगा. और जहां वह प्रभेद निभाया न जाता हो वहां देवालयमें बिराजनेकी स्वयंकी आज्ञाका भंग या उल्लंघन होता

होनेसे देवसंनिधि शास्त्रमें मानी नहीं जाती. अन्यथा स्वयम्भुका बहाना बनाने पर **''गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेषु इह तिरोहिताधिदेवेषु''** (कृष्णा.३) नियम भी खण्डित हो जायेगा. क्योंकि गोपीनाथप्रभुचरण **''जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत् च तत्परः गंगादितीर्थवर्येषु''** (साध.दीपि.३६ - ३७) इन देवक्षेत्रोंको तीर्थवासके कल्पके साथ जोड़कर नियम घड़ रहे हैं. 'पूजाप्रवाह'के प्रवर्तमान होनेकी जो शर्त है वह पूजाप्रवाहके अवैध अनुष्ठानवश अवरुद्ध हो जाती है. इसमें स्वयम्भु या कृत्रिम होनेकी औपाधिकता नहीं है. गंगादि तीर्थ स्वयम्भु हैं.

सदु पांडेकी वार्तामें - **''''तब श्रीआचार्यजी श्रीगोवर्धनधरको गोदमें ले दोउ कपोल चूमि कहे 'बाबा! अब तुम्हारी इच्छा कहा है.' तब श्रीगोवर्धनधर कहे 'मेरी सेवा प्रकट करो''''** (८४ वै.वा.७३।२). 'मेरी'का मतलब श्रीगोवर्धननाथजीके स्वरूपविशेषके अर्थमें न लेकर परब्रह्म परमात्मा भगवान पुष्टिपुरुषोत्तम श्रीकृष्णके सामान्य स्वरूप अर्थमें लेते हैं तो जितने भी ८४आदि वैष्णवोंको भगवत्स्वरूप गृहसेवार्थ पधराये उनका भी संगृह होनेसे कोई विशेषता प्रकट नहीं हो पायेगी. परन्तु तब अब्रह्मसम्बन्धीको गृहमें सेवाका अधिकार नहीं मिलता, जैसेकि बंगाली ब्राह्मणोंके निष्कासन बाद नियम गुसांईजीके कालमें लागू किया गया. तब श्रीनाथजीके देवालयरूप घरमें तनुज सेवकोंके भी घर होनेका नियम गलेपतित होगा, जैसे रामदासजी भी स्वयंके ठाकुरजीकी सेवा श्रीगोवर्धननाथजीके साथ करते थे और जैसा भल्लाजी आदि अनेक सेवक भी अपनी तनुजाके अलावा वित्तजा सेवा भी करते थे. पुनः मर्यादाजीवोंके भी उद्धारकी कथा अप्रासंगिक हो जायेगी.

यदि श्रीगोर्वधननाथजीके देवालयमें तनुजा सेवा पुष्टिमार्गीय करें और वित्तजा सेवा मर्यादामार्गीय भी कर सकते हों, सर्वोद्धारार्थ आज्ञाका ऐसा स्वरूप मानते हों तो उन मर्यादाजीवोंके द्वारा दिया जाता द्रव्यको

दान मानना या समर्पण? यदि दान तो दत्तापहार दोष देवलकताका प्रमाण बनेगा. यदि समर्पण तो सेवाप्रकारमें नेगभोगरागशृंगारके सारे तामझामके बाद सेवा पुष्टिमार्गीय नहीं रह जायेगी. यदि किसी अबुद्धिकल्पित हेतुके वश उसे पुष्टिमार्गीय भी मानकर चलते हैं तो मर्यादाजीवोंका भी पुष्टिमार्गीय सेवास्थलों पर सेवाधिकार मानना पड़ेगा. उसे मानते ही पुष्टिमार्ग भी केवल पुष्टिजीवोंके लिये न होकर मर्यादाजीवोंके लिये भी सिद्ध होगा. सो मर्यादामार्ग तो यावद्देहाभिमान पुष्टिजीवोंके लिये अनिवार्य ही है. पुष्टिमार्ग भी (पुष्टिमार्गीय स्वरूप और उस स्वरूपकी सेवाके हेतु मर्यादाजीवोंके अधिकार सिद्ध होनेसे) मर्यादाजीवोंके लिये सिद्ध होगा. परिणामरूप दोनों ही मार्ग दैवीजीवोंके लिये सर्वरूपधारण होंगे फिर पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रंथमें **''मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ न तद् युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः''**(पु.प्र.म.६) बाधित हो जायेगा.

सतघराकी फागुनवद सप्तमी श्रीनाथजीके घरमें पाटोत्सवरूपमें नहीं मनायी जाती. अन्य गोस्वामि बालकोंके घरमें मनायी जाती है. श्रीनाथजीके घरमें तो सिंहाड़के देवालयमें जो फागुनवद सप्तमीको बिराजे वहीं मनायी जाती है. यहां सतघराकी फागुनवद सप्तमी और सिंहाड़की फागुनवद सप्तमीके भेदका तुक्का तो छोड़ दिया पर इस बातपर बुद्धि चली नहीं कि महाप्रभुजीके द्वारा पाटपर बिरजवानेकी अक्षयतृतीया तिथिको कैन्सल करनेका मतलब श्रीनाथजीने जो देवालयकी आज्ञा महाप्रभुजीको दी और महाप्रभुजीने जो **''तासों देवालयकी रीति यहां राखनी''** उचित निर्णय लिया वहां कैन्सल हो जाते हों तो उन्हें प्रमाणतया उद्धृत नहीं करना चाहिये. और कैन्सल न होते हो तो दोंनो सप्तमिओंका भेद डूबतेको तिनकेका सहारासे अधिक मान्य नहीं हो पायेगा. जादवेन्द्रदास और हृषीकेश की वार्ताओंके आधारपर सतघराकी सप्तमी उत्सव नहीं मनाया जा सकता का गपोड़ाका टट्टु चलाया है. उसमें इन दोनों वार्ताओंमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है. सतघराके प्रसंगके बादके

ये प्रसंग है "**मुखमस्तीति वक्तव्यम्**". सतघराके प्रसंगके बाद पुनः अक्षयतृतीयाके पाटोत्सववाले जतिपुराके मन्दिरमें पधारे और १०० वर्ष पर्यन्त वहीं बिराजे सो न केवल श्रीगुसांईजी (क्योंकि वार्तामें उल्लेख आता है कि जहां महाप्रभुने पधराये वहां दर्शन न होनेपर प्रभुचरण खिन्न हो जाते). अपितु श्रीनाथजीके बारेमें महाप्रभुजीकी भी इच्छा तो उसी देवालयमें बिरजवानेकी थी. यदि अजबकुंवरीके आधिदैविक रूपमें भूतलके त्यागके बाद भी उसका मनोरथ सन्तुष्ट हो तो क्या कारण है कि महाप्रभु-प्रभुचरणके भी भूतलत्यागके बाद उनका गिरिराजपर ही श्रीजी बिराजे रहें ऐसे मनोरथको भंग करनेका? क्या अजबकुंवरीकी तरह महाप्रभु-प्रभुचरण आधिदैविक स्वरूप बचा नहीं? बादमें प्राकट्यवार्ताके गपोड़ेके टट्टु आगे बढ़कर यह समझाना चाहते हैं कि स्वयं श्रीजीने ही महाप्रभुद्वारा जिस देवालयमें प्रतिष्ठापित हुवे उस मन्दिरको जब औरंगज़ेबको साक्षात् आज्ञा देकरके तुड़वा दिया. इतना ही नहीं प्रत्युत महाप्रभु प्रभुचरण और स्वयंकी इच्छाके विपरीत अजबकुंवरबाईके भावसे सिंहाड़में बिराजना चाहा तो सर्वप्रथम तो अजबकुंवरबाई उदयपुरमें रहती थी सिंहाड़में नहीं. सो वहां बिराजना चाहिये था. यदि केवल उसके मनोरथ नहीं परन्तु जगदुद्धारके लिये महाप्रभु-प्रभुचरण और अजबकुंवरबाई की भी कानीको तोड़कर सिंहाड़ बिराजना चाहा ऐसा मानते हैं तो वहां फिर औरंगज़ेब जो तोड़ने आया वह श्रीजीकी आज्ञासे हो तो उनकी इच्छा प्रमाणतया न रहकर ओरंगज़ेबकी प्रदान की गई तोड़ देनेकी इच्छाको प्रमाण मानकर तोड़ने लायक मानना पड़ेगा. और पहले उदयपुर बादमें घसियाड़में बिराजनेके बाद औरंगज़ेबकी सेनाके भंवरोंके कारण तथाकथित उपद्रव (तुलनीय: औरंगज़ेबकी आत्मकथा और श्यामदास उदयपुरका इतिहास श्रीजी प्राकट्यवार्ताकी अनैतिहासिकताके निर्धारणार्थ) गपोड़ेके टट्टुके कारण लौट जानेके कारण श्रीजीकी उस मन्दिरको खण्डित न होनेकी कथा मान लेते हैं. तो या तो महाप्रभुजी प्रभुचरण और अजबकुंवरीके मनोरथके विपरीत इसे सातवीं प्रतिष्ठा माननी पड़ेगी और पुरानी ही प्रतिष्ठा माननी हो तो क्या कारण

कि अक्षयतृतीयाको न मानकर सिंहाड़के बिराजनेकी इच्छाका प्रामाण्य इतना प्रबल माना जा रहा है? कारणका कोई भी गपोड़का टट्टु चलाओ महाप्रभुजीको दी हुई "**देवालयकी सेवा प्रकट करके सभी दैवीजीवोंके उद्धार**" आज्ञा तो निरस्त हो ही जाती है. तब वाल्लभ सम्प्रदाय कहां रहा? जहां महाप्रभुजी-प्रभुचरणके आदरके बजाय जगतके उद्धारका नगाड़ा जोरसे बजाया जा रहा है? वो तो स्वयं महाप्रभुजीकी "**अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ**" (बा.बो.११) वचनद्वारा उदयपुरके राज्यके अधिदैवता एकलिंगजीका भी माहात्म्य स्वीकारना ही पड़ेगा!

यदि श्रीनाथजी, गुसांईजीकी विद्यमानतामें, गुसांईजीके मनोरथके इतने आधीन हों कि जतिपुरा छोड़ न पाते हों और अजबकुंवरबाईके इतने आधीन न हों अजबकुंवरबाईकी भूतलपर विद्यमानतामें उसका मनोरथ पूर्ण कर पायें फिर भी उसकी आधिदैविक स्थितिकाल तक सिंहाड़ बिराजना पड़ा! तो स्वयं आधिदैविक रूपसे सदा गोवर्धनपर बिराजमान हैं ही तो आधिदैविक रूपसे अजबकुंवरबाईका गोवर्धननाथजीको गोर्वधनगिरिपर न भजकर—अर्थात् खुदकी छोटीसी भौतिक कोठड़ीमें ही उन्हें बिराजे रखनेका—मनोरथ क्यों है? आधिदैविकरूपमें मनोरथपूर्ति हो जानेके बाद अजबकुंवरबाईको मनोरथ भी आधिदैविकरूपसे सदा वहां बिराजकर दर्शन देनेका ही होना चाहिये था. अर्थात् क्या प्रभुचरणको खिन्न करनेका ही अजबकुंवरबाईका मनोरथ था? जिसे श्रीजी पूर्ण भी कर रहे हैं? तब तो सिद्ध हो गया कि अब सिंहाड़में बिराजते श्रीजी महाप्रभु-प्रभुचरणके भावात्मक नहीं रह गये प्रत्युत अजबकुंवरबाईके भावात्मक ही रह गये हैं. तब तो यह वाल्लभ सम्प्रदायका मन्दिर न रह कर अजबकुंवरसम्प्रदायका मन्दिर हो गया!

(अपार्थकयुक्ति ७)

यहीं बात समझाते हुवे १२० वचनामृतवाले गिरिधारीजी महाराज

(कांकरोली) ८-में वचनामृतमें आज्ञा कर रहे हैं "**श्रीनाथजीको धर श्रीमहाप्रभु - श्रीगुसांइजीने देवद्वार राख्यो है**" श्रीनाथजीका स्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम एवं स्वयंभू श्रीगिरिराजजीकी तरह ही होनेसे आपके स्वरूपमें प्राणप्रतिष्ठाकी आवश्यकता ही नहीं हैं. गर्गसंहिताके गिरिराजखण्डके सातवे अध्यायमें श्रीनाथजीके प्राकट्यकी भविष्यवाणीका वर्णन हैं.

(निराकरण ७)

उनके निरूपणसे अपार्थयुक्तिको समर्थन नहीं मिलता क्योंकि सर्वप्रथम तो जब वो श्रीनाथजीके द्रव्यसे अपने खुदके ठाकुरजीके भोग न धरना पड़े इसलिये सातस्वरूपके उत्सवमें सम्मिलित होनेके बजाय कतरानेके सिद्धान्तकी बात १२०वचनामृतकार कर रहे हैं. वहां अपार्थकयुक्तिदाता श्रीनाथजीके द्रव्य से ठाकोरजीको भोगकी बात तो गई खुदके भी देवद्रव्यपर निर्वाहमें दोष न रखनेकी बात, सिद्धान्तनिष्ठाह्रास होनेके कारण, प्रस्तुत कर रहे हैं. इसके समर्थनमें गर्गसंहिताके वचनोंको जो प्रमाणतया प्रस्तुत किया है वह तो अत्यन्त क्षुद्र प्रमाण है.

(अपार्थकयुक्ति ८)

पुष्टिमार्गमें श्रीमहाप्रभुजी एवं श्रीगुसांईजी के ग्रन्थोंके आधारपर अपने स्वगृहमें स्वसर्वस्वसमर्पणपूर्वक सेवा करना सिद्धान्त है किन्तु पुष्टिमार्गमें यह गृहसेवाकी गुरुआज्ञाके बाधरूपमें श्रीनाथजी अपनी स्वयंकी इच्छासे परार्थ (जगतके उद्धारके लिये) देवालयमें बिराजकर सभी दैवीजीवोंका उनके भावके अनुरूप फलदान करते हैं. अतः श्रीनाथजीकी सेवा - दर्शन करना भी पुष्टिसिद्धांतका बाध नहीं माना जायेगा क्योंकी श्रीमहाप्रभुजीने नवरत्न ग्रन्थमें (श्लोक ७) आज्ञा की है कि "**सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया...**" अर्थात् प्रभुके सेवाका प्रकार गुरुआज्ञा अनुसार होना चाहिये परन्तु यदि प्रभुकी स्वयंकी इच्छा गुरुआज्ञासे पृथक् है...

(निराकरण ८)

हमने दिखला दिया कि "**बाधनं वा हरीच्छया**" पक्षको जब आजीविकाके अर्जनार्थ दुरुपयोग न किया जाता होता तब स्वीकार्य था. अब जब आजीवनार्थ भगवत्सेवाका प्रकार शुरु हुआ तब इस दुष्प्रकारके अनुष्ठानको भी श्रीनाथजीकी आज्ञाका प्रमाण कहां प्रस्तुत किया गया? यदि एकबार सर्वोद्धारक स्वरूपके देवालयमें बिराजनेकी आज्ञाको सर्वप्रकारसे स्वमार्गीय सिद्धान्तसे छूट लेनेकी आज्ञा मानी जाये तो यह तो शुद्ध "**आम्रान् पृष्टः कोविदारान् व्याचष्टे**" की मन्दमति होनेका प्रमाण है. द्वारकाधीश (द्वारका - मथुरा) जगन्नाथजी (नीलाचल) तिरुपति (वेंकटाचल) ही नहीं अपितु अन्यान्य वृन्दावनादिके भी कृष्णमंदिरोंमें आराध्य भगवन्नमूर्ति यदि सर्वोद्धारक श्रीकृष्णके स्वरूप नहीं तो निबंध तथा एकादशस्कंध में दी गई पुष्टिरीतिमें अक्षमपुष्टिमार्गीयोंका उनके पूजनादिकी छूट भी सर्वथा बाधक अन्याश्रय सिद्ध होगी. यदि अन्याश्रय न हो ऐसे सभी स्वरूप सर्वोद्धारक स्वीकारने पड़ेंगे. तो इस कारण श्रीनाथजीकी विशेषता सिद्ध नहीं होगी.

यदि यह विशेषता महाप्रभुजीके द्वारा प्रतिष्ठापित और तथाकथित ध्वजाकलशादिके अपवादके सिवाय शेष समूची सेवारीति पुष्टिमार्गीय होनेके कारण मानते हैं, तब तो घूमघामके बात दोबारा वहीं आ गई कि महाप्रभुजीकी आज्ञानुसार तो देवालय था उसे स्वयं श्रीनाथजीने औरंगज़ेबके द्वारा तुड़वा दिया (श्रीनाथजी प्राकट्य वार्ताके अनुसार). अतः अब वो स्वरूप श्रीनाथजीका न रह गया. तब तो व्यापारीकरणवाले सेवाप्रकारके वश उसे देवालयका सेवाप्रकार भी माना नहीं जा सकेगा. सो जिस देवालयमें जिस देवमूर्तिकी जो सेवापूजाकी रीति हो वैसा ही स्वरूप वह बन जाता है. पहले जो भी रहा हो वो नियामक नहीं रह जाता. जैसे विट्ठलनाथजी, गोकुलनाथजी, मदनमोहनजी आदि स्वरूप पहले मर्यादामार्गीय थे फिरभी महाप्रभुजीद्वारा पुष्ट किये जानेके तथा पुष्टिरीतिकी सेवाके कारण पुष्टिपुरुषोत्तमके रूपमें सेवा अंगीकार

करने लग गये.

अपार्थकयुक्तिदाताका सबसे बड़ा भ्रम यह है कि नेगभोगरागशृंगारकी रीतिके प्रभेदवश ही मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय आराधनाप्रणालीका भेद होता है. क्योंकि ऐसा हो तो वृन्दावनके चैतन्यसम्प्रदायके जिस गोस्वामिगृहमें दीक्षा चैतन्यसम्प्रदायानुसारिणी और सेवा पुष्टिमार्गानुसारिणी होती है, वहां पुष्टिमार्गीय स्वरूप मानते हैं तो नेगभोगरागशृंगारवश भी सेवाप्रणालीका पुष्टिमार्गीय होना सिद्ध नहीं हो पायेगा. और वहां नहीं मानते तो केवल इस नेगभोगरागशृंगाररीतिके आधारपर श्रीनाथजीकी भी सेवाको पुष्टिमार्गीय सिद्ध नहीं किया जा सकता. शुरुआतमें अब्रह्मसंबन्धी बंगाली वैष्णवोंके सेवकतया नियुक्तिके वश और अब श्रीनाथजीके नामात्मक स्वरूप भागवतका वृत्त्यर्थ प्रयोग भक्तिमें महान बाधक माना गया है. सो उन द्वादशस्कन्धात्मक द्वादशांगरूपवाले श्रीनाथजीका वृत्त्यर्थ विनियोग बाधक बनेगा ही. श्रीमद्भागवतपुराणके भी सर्वोद्धारक होनेके कारण जलभेद निबन्धमें वृत्त्यर्थ प्रयोगके निषेधसे भागवतके भी वृत्त्यर्थ विनियोगको सिद्धान्ताभिमत मानना पड़ेगा. क्योंकि भागवतके तो वृत्त्यर्थ विनियोगकी शास्त्रीय छूट भागवतमाहात्म्यमें भी है. और वह लौकिकालौकिक सभी तरहकी कामनाओंका पूर्ण करनेवाली संहिता स्वयंको मानती है सो पुष्टिसम्प्रदायमें उसके वृत्त्यर्थ प्रयोगके निषेधको भी अप्रसक्त अनुचित मानना पड़ेगा. प्रतीक्षा अब इसीकी है कि इसकी भी वकालत अब कितनी शीघ्र शुरु की जाती है!

(अपार्थकयुक्ति ९)

श्रीनाथजीमें देवालयका सेवाप्रकार स्वयं श्रीजीकी इच्छासे ही रखा गया हैं. जिसका उल्लेख ८४ एवं २५२ वैष्णवोंकी वार्ता एवं श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्तासे प्राप्त होता है. ८४ वैष्णवोंकी वार्तामें सदुपाण्डेकी वार्तामें श्रीनाथजीने श्रीमहाप्रभुजीको यह आज्ञाकी हैं कि जो तुम मेरी सेवा जगतमें प्रकट करो तो दैवीजीव बेगि शरनि आवे... और बादमें

पूरणमलक्षत्रीकी वार्तामें श्रीमहाप्रभुजीने आज्ञाकी कि जो श्रीठाकुरजीकी यह इच्छा है जो जगतमें पूजाय बहोत जीव उद्धार करेंगे. सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है. अतः श्रीमहाप्रभुजीने प्रथम श्रीनाथजीकी विशेष आज्ञासे अपने सेवक रामदासचौहानको वि.सं.१५४८ श्रावण सुद १३को श्रीजीकी सेवा सौंपी और बादमें वि.सं.१५७६ वैशाख सुद ३को श्रीमहाप्रभुजीने अपने गुरु श्रीमाधवेन्द्रपुरीको गुरुदक्षिणाके रूपमें १४ वर्ष पर्यंत श्रीजीकी इच्छा अनुसार श्रीजीकी सेवा सोंपी. उसके बाद वि.सं.१५९०में श्रीगुसांईजीने अपने सेवकोको श्रीजीकी सेवा सोंपी. इसके बाद वि.स.१६२३ फाल्गुन वद ७को श्रीनाथजी मथुरामें श्रीगुसांईजीके घर समस्त परिवारका समर्पण स्वीकार करने पधारे एवं वहां ८२ दिन सतघरामें बिराजे. यहीं सतघरा प्रसंग है. इस सतघरा प्रसंगके उत्सवको केवल वल्लभकुलके सातों घरमें आज भी पाटोत्सवके रूपमें मनाया जाता हैं. किन्तु श्रीनाथजीके मंदिरमें नहीं (द्र.श्रीनाथजी प्राकट्यवार्ता) क्योंकि श्रीजीद्वारमें तो श्रीनाथजी सं १७२८ फाल्गुन वद ७को पहलीबार अनेक भक्तोंके उद्धारके लिए मेवाड़ सिंहाड़ गांवमें बिराजे वहीं पाटोत्सव मनाया जाता हैं. श्रीनाथजी मेवाड़ पधारे उसके पूर्व आप गिरिराजपर्वत पर बिराज रहे थे तब श्रीजीद्वारामें फाल्गुन वद ७का पाटोत्सव नहीं मनाया जाता था. इस बातका स्पष्ट उल्लेख २५२ वैष्णववार्तामें हृषीकेशजीकी वार्तामें एवं ८४ वैष्णववार्तामें यादवेन्द्रदास कुम्हारकी वार्तामें है कि इस दिन श्रीगुसाइंजी गोकुल ही बिराज रहे थे गोवर्धनमें नहीं. सतघरा प्रसंगके बाद तुरंत ही भक्त चतुर्भुजदासजीके एवं अनेक भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये श्रीगोवर्धनपर्वतके मंदिर पर श्रीनाथजी पधारे. श्रीनाथजी चतुर्भुजदासजीके विरहको दूर करके उनको संयोग रसके आनंदका दान करनेके लिये एवं चतुर्भुजदासजीको दर्शन देकर उनके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये ही मथुरा सतघरा से आप(श्रीनाथजी) अक्षयतृतीयाको पाट बिराजे वह जतिपुरावाले मंदिरमें ही वापिस पधारे हैं. सतघरा प्रसंगके बाद १०० वर्षसे भी अधिक श्रीनाथजीने श्रीगोवर्धनपर्वत पर अपने मंदिरमें ही बिराजके सभी भक्तोंके मनोरथ पूर्ण किये है. सतघरा

प्रसंगके बाद भी श्रीनाथजीकी तीन आज्ञा प्राप्त हो रही है जिसमें श्रीनाथजी सिंहाड़ (नाथद्वारा)में बिराजकर सभी भक्तोंका उद्धार करनेकी ही इच्छा प्रकट कर रहे हैं. श्रीनाथजीकी तीन आज्ञा निम्नलिखित हैं:

श्रीनाथजीकी पहली आज्ञा: एक दिन श्रीनाथजी किसी वैष्णवके घर अटके, इसलिये अजबकुंवरिबाईके पास पधार न सके तब वे बहुत व्याकुल हुई और जब दूसरे दिन श्रीनाथजी पधारे तब अजबकुंवरिबाईने कहा की मैं आपको जाने नहीं दूंगी, तभी श्रीनाथजीने भक्त अजबकुंवरिबाईके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उनको वचन दिया कि जबलों श्रीगुसाईजी बिराजे है तबलो तो जानो और आवनो ही बनेगो. तदुपरांत समय पाय बोहोत वर्ष लगि तेरे ही पास हों सिंहाड़में यह तेरी कोठरीमें ही बेठोंगो, यहां ही रहूंगो, यह स्थल छोड़ीके कहूं न जाउंगो, तब प्रसिद्ध सबनको दर्शन इहांई देउंगो. तब अजबकुंवरिबाईने कह्यो, जो तुम्हारो कैसो भरोंसो? तुम्हारे भक्त अनेक है. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहें, जो मै तोसों सत्य कहत हों. सो सत्य यह मेरो वचन है, यामे संदेह नाहीं. अतः श्रीनाथजीकी इच्छा और वचन के कारण ही सिंहाड़ (नाथद्वारा)में अजबकुंवरिबाईकी कोठरीमें ही श्रीनाथजीका निजमंदिर सिद्ध हुआ एवं सिंहाड़ (नाथद्वारा)में श्रीनाथजी वि.स.१७२८ फाल्गुन वद ७को सभी भक्तोंके उद्धारके लिये पहली बार पाट बिराजे. सिंहाड़ (नाथद्वारा)में श्रीनाथजीके मंदिरमें जो फागुन वद ७का पाटोत्सव मनाते है वह पाटोत्सव इसी भाव से मनाते है कि श्रीनाथजी सभी भक्तोंका उद्धार करनेके लिये ही व्रजसे सिंहाड़ (नाथद्वारा)के मंदिरमें पहली बार वि.सं १७२८ फागुन वद ७के दिन पाट बिराजे हैं, यह बात स्वयं श्रीनाथजीके अजबकुंवरिबाईके प्रति दिये वचनसे ही स्पष्ट हो जाती है. अजबकुंवरिबाईकी वार्ताके भावप्रकाशमें श्रीहरिरायमहाप्रभुजी आज्ञा करते है कि जब तक अजबकुंवरिबाईकी आधिदैविक स्थिति रहेगी तब तक श्रीनाथजी व्रज छोड़कर सिंहाड़ (नाथद्वारा) गांवमें

ही बिराजेंगे एवं सभी भक्तोंको प्रसिद्ध दर्शन देंगे. अजबकुंवरिबाईके भावसे श्रीनाथजी सिंहाड़ (नाथद्वारा)में बिराज रहे है. यह श्रीनाथजीके स्वयंकी आज्ञा है जिससे यह ज्ञात होता है कि सभी भक्तोंके उद्धारार्थ आप मेवाड़में बिराजे हैं केवल कोई विशेष गृह परिवारके उद्धारार्थ नहीं. (द्रष्टव्य - २५२ वैष्णवोंकी वार्ताके अन्तर्गत अजबकुंवरिबाईकी वार्ता).

(निराकरण ९)

प्रथम आज्ञाके इतिहासमें कहा जा रहा है कि श्रीनाथजीने सदुपांडेकी वार्तामें आज्ञा करी कि "**तुम मेरी सेवा जगतमें प्रकट करो तो दैवी जीव शरनि आवें**". इस विधानके जो अर्थ संभव हैं:

१. तुम (महाप्रभुजी) मेरी सेवा (श्रीनाथजीके स्वरूपके व्याजसे परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुष्टिपुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी) जगतमें (पुष्टिजगतमें/दैवीजगतमें) प्रकट करो तो दैवी (पुष्टि/मर्यादा दोनों और/अथवा आसुरी/प्रवाह भी) शरणमें आवें.

२. तुम (महाप्रभुजी) मेरी (श्रीनाथजीके शिलानिर्मित स्वरूपकी) सेवा (तनुजासेवा / कीर्तनसेवा / वित्तजासेवा / आजीविकोपार्जनार्थ सेवा) जगतमें (पुष्टि जगतमें और सेवार्थ अनुद्यत दर्शनार्थी प्रसादार्थी खरीददारोंमें भी) तातें दैवी (पुष्टिजीव / सभी जीव) शरनिमें आवें.

इन दोनोंमें से द्वितीय पक्ष लेते हैं तो, श्रीनाथजीके स्वरूपका स्वयंस्वीकृतिके आधारपर रामदास चौहान माधवेन्द्र यति और बादमें बंगालियोंको जो स्वरूपसेवा सौंपी, इसी तरह कीर्तनसेवा कुंभनदास सूरदास परमानन्ददास और कृष्णदास को सौंपी; और वित्तजा व्रजवासियोंको सौंपी, इनमें मर्यादामार्गीय देवालयकी प्रणालिके अनुसार देव-सेवापूजार्थ प्राप्त अन्नधानादिसे तो सेवाकार्चकका निर्वाह हो सकता है परन्तु देवविग्रहार्थ जो द्रव्य प्राप्त हो उससे नहीं. अन्यथा पातक देवलकत्वदोष लगता ही है.

'जगत'पदका अर्थ संकुचित वृत्तिसे लेना तो स्वयंको अभिप्रेत नहीं है. अत: सभी दैवीजीवोंके अन्तर्गत बंगाली ब्राह्मणोंके जैसे कोई स्वरूपसेवा करनेवाले या दर्शनार्थी भी जो पुष्टिमार्गीय रीतिसे तो श्रीनाथजीकी शरणमें आये न थे, ऐसा लेते हैं तो तावता श्रीजीकी आज्ञा तो फलितार्थ नहीं हुई. उल्लेखनीय है कि महाप्रभुजीद्वारा **"बाधनं वा हरीच्छया"** कल्पसे अपने स्वमार्गीय सिद्धान्तका अपवाद करनेपर भी. और 'शरणि'का अर्थ दर्शनार्थी भेंटदानार्थी प्रसादार्थी देहपातके बाद मुक्ति या गोलोकादि प्राप्ति अर्थ लेते हैं तो, वह तिरुपतिबालाजी जगन्नाथजी द्वारकानाथजी बद्रीनाथजी आदि भगवत्स्वरूपोंके दर्शनार्थीओंके पक्षमें सम्भव नहीं मानेंगे तो उनकी तरह श्रीनाथजीके मध्यमें बिराजमान होनेकी प्राकट्यवार्ताकी तुलना अप्रामाणिक सिद्ध होगी.

अत: प्रथमपक्षके अन्तर्गत श्रीनाथजीके स्वरूपकी अथवा परब्रह्म परमात्मा भगवान पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी सेवा प्रकट करो ऐसा अर्थ लेते हैं तो श्रीनाथजीका प्रस्तुत सिंहाड़में बिराजमान स्वरूप ही नहीं प्रत्युत अन्य भी अनेकानेक स्वरूपोंके बारेमें उसे मान्य करना पड़ेगा.

(अपार्थकयुक्ति १०)

दूसरी आज्ञाके रूपमें ले रहे हैं श्रीनाथजीने जो गोविन्दजीको भविष्यमें सिंहाड़ पधारने दी.

(निराकरण १०)

क्या हास्यास्पद कथा है! दूसरी आज्ञा वह क्यों नहीं गिनी कि जिसमें गुसांईजीके प्रथमात्मज गिरिधरजीको सातों स्वरूपोंके साथ अन्नकूटभोग धरनेकी आज्ञा दी थी? उल्लेखनीय है कि प्रभुचरणने कहा था कि यासूं लौकिक बढ़ेगो. पर **"बाधनं वा हरीच्छया"** न्यायेन पुत्रोंको सम्मिलित होने दिया परन्तु शोभा बेटीजीको उसमें सम्मिलित होनेपर न केवल अप्रसन्नता दरसायी अपितु निजघरमें बिराजमान

स्वरूपमें उन्हें सभी सेव्यप्रभुओंके दर्शन भी करवाये! और स्वयं पश्चात्ताप भी किया कि खुदके घरमें ऐसी लौकिकता क्यों बढ़ी? एतावता सिद्ध होता है कि बादका सारा सेवाप्रकार लौकिकताको बढ़ानेका ही प्रकार प्रकट हुआ. और लौकिकताको बढ़ानेको ही दूसरे शब्दोमें 'जगदुद्धार' तरीके अब बिरदाया जा रहा है. जिस पुष्टिमार्गमें अलौकिक भक्तिभावका निजगृहमें निजतनधनके निजपरिवारजनोंके साथ रखते हुए अपने सेव्यस्वरूप और सेवा के प्रकारके अनुसार अस्वमार्गीय जनद्वारा दर्शन-स्पर्शन भी अशुचिकर माना गया था. सो पुन:पञ्चामृत स्नान आदिका विधान था : **"स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्"**,**"अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शने वार्षिकसेवानिष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं पञ्चामृतस्नानम्"**(साध.-दीपि.१०८, श्रीहरिरायजीकृत ६६अपरा.निरू.११).

ऐसी अनेक आज्ञाओंका बाध करके अब **"सर्वान् भक्तान् प्रदर्शयितुं अपरिवारजनैः धनसंग्रहेण स्वपरिवारजनपोषणाय वित्तार्जनरूपा परिचर्या सदा कार्या अजबकुंवरबाई-भावानुरोधा!"** कहा जा रहा है. धन्य हो ऐसी श्रीवल्लभमार्गकी उपदेशकता खुद वल्लभवंशजोंकी!

(अपार्थकयुक्ति ११)

तीसरी आज्ञा श्रीजीकी जतिपुराके मन्दिरके रक्षार्थ शहीद होनेवालोंको जो दी थी, उसे जगत्में पूजानेके अर्थमें ले रहे हैं. अर्थात् अस्पृश्य म्लेच्छोंके हाथोंसे अधमकक्षाकी मृत्यु प्रदान करवाकर उत्तमकक्षाकी अपनी लीलामें प्रवेश प्रदानकी आज्ञाके रूपमें ले रहे हैं.

(निराकरण ११)

यदि श्रीजी औरंगज़ेबके साथ साक्षात् बात कर सकते तो अपने मन्दिरके रक्षकोंको मरवाये बिना सीधे-सीधे अपना विप्रयोग प्रदान कर लीलामें प्रवेश प्रदान करने भी समर्थ न रह गये थे क्या? इतने अबौद्धिक गपोड़ेके टट्टु क्यों चलाने पड़े? कुछ ना कुछ महाप्रभुके

सिद्धान्त और श्रीजीके आधिदैविक स्वरूपको इन्कारनेके दुर्भावकी पोल न खुल जाये ऐसी लीपापोती लगती है.

(अपार्थकयुक्ति १२)

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि जगन्नाथपुरी, द्वारिकापुरी, श्रीरंगजी, व्रजमंडल, आदि भगवत्स्थानोंमें जहां कहीं अनवरत भगवत्पूजाका क्रम चला रहा हो वहां भगवानमें परायण होकर रहना चाहिये. (साधनदीपिका ३६) श्रीगोपीनाथजीके समय श्रीनाथजी व्रजमंडलमें ही बिराजते थे और श्रीगोपीनाथजी सभी वैष्णवोंको व्रजमंडल एवं श्रीजीद्वार जानेकी आज्ञा कर ही रहे है. श्रीगोपीनाथजीके कालमें जितने वैष्णव व्रजमंडलमें जाते थे वे सभी श्रीगोपीनाथजीकी आज्ञा अनुसार श्रीनाथजीकी सेवा और दर्शन के लिये अवश्य जाते ही थे.

(निराकरण १२)

श्रीगोपीनाथजीके पूर्वोक्त **''जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले''** वचनमें श्रीजीके देवालयमें दर्शन - भेंट - प्रसादका विधान मनवानेका गपोड़ा इस युक्तिमें चलाना चाहा है. श्रीजी तब व्रजमण्डलमें बिराज रहे थे इस लिये 'व्रजमण्डल'पदका अर्थ जतिपुराका श्रीजीद्वार मनवाना जो चाह रहे है उसमें यह बुद्धिमें नहीं कौंध पाया कि एक और श्रीजीको पुष्टिपुरुषोत्तम दूसरी और जगदीशपुरि, द्वारकापुरि, श्रीरंगक्षेत्र, पंढ़रपुर, वैकंटगिरि बदरिकाश्रम आदिमें अपुष्टिपुरुषोत्तमता या मर्यादामार्गिता सूचित की जा रही है, वह यहां छूट रही है. क्योंकि **'इतरेतरसंन्नियोगशिष्ट'** इन देवविग्रहोंके भजनार्थ विधिनिषेध इतरेतरसाहित्यके साथ प्रवृत्त या निवृत्त होंगे. अतः सभीकी समानरूपेण पुष्टिमार्गमें या तो आराध्यता आयेगी या सभीकी अनाराध्यता सिद्ध हो जायेगी. विचारपूर्वक बोलना अपार्थकयुक्तिवाद करनेवालेके स्वभावमें प्रकट नहीं होता है. गोपीनाथप्रभुचरण **''जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे गोवर्धने तथा''** भी तो कह सकते थे 'व्रजमण्डल'में पदके प्रयोगद्वारा अतः श्रीजीकी बात कर रहे यह माननेमें

सबसे बड़ी आपत्ति यह उठती है कि ये सारे उपदेश (साध.दीपि.२४ - ५१) शरणदीक्षामें दीक्षित स्वमार्गीयजनोंके कर्तव्यतया निरूपित हैं. श्रीजीके दर्शन प्रसाद या भेंट आदि रूपी भजनमें केवल प्रपत्तिमार्गीय जीव ही अधिकारी बनेंगे. भक्तिमार्गके अधिकारी तो अग्रिम **''क्रीड़ार्थम् असृजत्''** से **''कायभवा ...अनुत्तमा''** (साध.दीपि.५२) लीलासृष्टिके अनुगृहीत अधिकारी तो सर्वस्वसमर्पणपूर्वक दैवीजीव होते हैं सो उन्हें अवैष्णवोंके साथ संसर्ग न रखते हुवे गार्हस्थ्य धर्मको निभाना कर्तव्य बताया गया है (द्रष्ट. साध.दीपि.६२-७२). सो भगवत्स्वरूपके बारेमें भी **''लध्वीमेव भजेद् मूर्तिं यथालब्धोपचारकैः''** (साध.दीपि.८७) विधानद्वारा पुष्टिमार्गीयरीतिका भजन ही दिखला रहे हैं. यों **''भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि''** जैसी यह रुग्णता यहां प्रकट हुयी है.

(अपार्थकयुक्ति १३/अ)

भक्तिवर्धिनीके आठवें श्लोकमें श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं: **''अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति''**...चतुर्थलालजी श्रीगोकुलनाथजी हरिस्थानका मतलब गोर्वधननाथ ले रहे हैं. 'श्रीगोवर्धनादौ'का अर्थ श्रीगोवर्धन पर्वत और अन्य हरिस्थल होता हैं. श्रीगोकुलनाथजीके समय तो श्रीनाथजी श्रीगोर्वधनपर्वत पर ही बिराजते थे. अतः श्रीगोकुलनाथजीके अनुसार 'हरिस्थान'का अर्थ श्रीगिरिराजजी और श्रीजीद्वार है.

(निराकरण १३/अ)

यह तो ''मेरा माथा चक्कर खा रहा है'' का अंग्रेजी अनुवाद ''माइ हेड इज़ ईटिंग सर्कल'' जैसा कुछ कर दिखानेका करतब प्रकट हुआ है. एतदर्थ किन्तु अन्य भी कई व्याख्याकारोंकी व्याख्या पर एकबार दृष्टिपात कर लेना आवश्यक हो जाता है:

(क) तृतीयात्मज बालकृष्णजी : असद्द्रव्योपार्जितम्

अन्नं कृपणान्नं च दुष्टान्नं तेन दुःसंगतिः दुरन्नं च यत्र न भवति तत्र सततं स्थेयम्... तत् स्थानमेव आहुः **अत** इति यतः उभाभ्यां तद्भूयस्त्वम्. अतः **ऐकान्ते हरिस्थाने** यत्र हरिः सर्वत्र तिष्ठति तत्रैव तिष्ठति तत्रैव स्थेयं, तत्रापि एवमेव जड़वद् न किन्तु **तदीयैः** = भगवदीयं भगवत्सम्बन्धिभिः सह मिलित्वा ते हि तद्वार्ताभिज्ञा यतो भवन्ति तेन सत्संगे सति कृतार्थएव भवति... यतो मुख्यपक्षः सएव यस्मिन् सेवाश्रवणादिकं मतम्. अस्मिन्स्तु केवलं श्रवणाद्येव तेन अयं गौणः मुख्यासम्भवेऽपि इदन्तु कार्यमेव.

(ख) गोकुलनाथजी : यतः पूर्वोक्त (दुःसंग - दुष्टान्नग्रहण) प्रकारस्थितौ दोषसम्भावना अतो दोषाभावपूर्वकं कालनिर्बाधार्थं **हरिस्थाने** स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वात् भक्तिमार्गीयसेवाप्रकारयुक्तभगवत्स्थाने (नतु परतः सेव्यसामग्रीसम्पादनविक्रयप्रकारयुक्तस्थाने) श्रीगोवर्धनादौ स्थेयम्. तत्रापि स्थितिप्रकारम् आहुः **तदीयैः सह तत्परैः तदीयैः** भगवदीयैः सह स्थेयं तत्रापि **तत्परैः** = भगवत्स्वरूप-तत्सेवा-तच्छ्रवणादिपरैः. एतत्प्रकारकस्थित्यभावे तत्रापि दुःसंगेन पूर्वसिद्धबुद्धिनाशप्रसंगात् जीवनवैयर्थ्यमेव स्यादिति पूर्वोक्तप्रकारेण स्थेयम् इति ज्ञापितम्.

(ग) कल्याणरायजी : यतः पूर्वोक्तं बाधकम् अतः कारणात् **हरिस्थाने** व्रजमथुरादौ **तदीयैः** भगवन्मार्गस्थैः अनन्यैः **तत्परैः** सेवाकीर्तनादिना भगवत्परैः.

(घ) हरिरायजी : भक्तानां रक्षकः कृष्णो नान्यः इत्येव निश्चयः सतु सन्निहितो नित्यं लीलास्थाने तथा

पुनः यत्र वा भगवद्भक्ताः सेवया कथया युताः, स्वभावतो दुःखहर्ता निजाश्रितजनाश्रितान् नोपक्षते यतः, तत्र स्थेयं यत्र स्थितो हरिः...

(ङ) गोपेश्वरजी : यतः त्यागे बाधकानां बहुत्वम् **अतः** = कारणात् क्वचिद् **हरेः** = सर्वदुःखहर्तुः **स्थाने** = श्रीगोकुलश्रीगोवर्धनादौ **तदीयैः** = तत्सम्बन्धिभिः **तत्परैः** = परमकाष्ठापन्नवस्तुनिष्ठैः सह स्थेयम् इत्यर्थः.

(च) वल्लभजी : **तदीयैः** = भगवदीयैः तत्रापि **तत्परैः** = भगवत्परैः नतु हिरण्यकशिपुप्रभृतिवद् अतत्परैः सह स्थेयम्... हरिस्थानस्य द्वैविध्यम् आहुः **अदूरेइति** पूजाप्रवाहवति गोवर्धननाथजगन्नाथादिस्थाने भगवतो अदूरे पूजाप्रवाहरहितयमुनातटादिषु लोकदृष्ट्या भगवतो विप्रकर्षे वा...

(छ) वल्लभात्मजश्रीबालकृष्णजी : दुष्टानां अवैष्णवानां संसर्गात् तैः सर्वथा भक्तिनाशो भवेत्... यत उक्तरीत्या भक्तिप्रतिबन्धो भवेत् अतो **हरिस्थाने** पुरुषोत्तमस्थाने व्रजे वा श्रीरंगधाम - पुरुषोत्तमक्षेत्र - द्वारावती - बदर्याश्रम - वैंकटादिषु स्थेयम्... तत्रापि दीक्षादिकं परिगृह्य. केवलं व्याख्यातारः प्रतिष्टाप्रेक्षका लोकसंग्रहार्थम् तैः सह न स्थातव्यं किन्तु **तत्परैः** कृष्णपरायणैः सेवाश्रवणकीर्तनादिना.

इन वचनोंपर दृष्टिपात कर लेनेके बाद सर्वप्रथम तो यहां प्रयुक्त **'स्थेयम्'**पदको चाहे आज्ञार्थक लो या आवश्यकार्थ लो एक बात सर्वथा ध्रुव निश्चित है कि आज्ञाका भार या आवश्यकताका भार 'वहां रहना' इसपर नहीं है. क्योंकि अनेक वैकल्पिक स्थानोंके विवक्षित होनेसे भी और अनुक्तसमुच्चायक 'आदि'पदके प्रयोगके कारण भी.

आज्ञा या आवश्यकता तो "कैसे रहना" अर्थात् जो भगवदीय भगवत्सेवाकथापरायण हो उनके साथ रहनेपर है. विधिवाक्यमें विकल्प या अनुकल्प के प्रावधान रहनेपर स्वेच्छाचयनकी अनुज्ञाका रूप प्रकट हो जाता है.

दूसरी बात सर्वथा महत्त्वपूर्ण यह है कि यह गौण पक्ष माना गया है. अर्थात् स्वमार्गीय रीतिसे स्वगृहमें स्वतनुवित्तपरिजनोंके विनियोगात्मिका संगोप्य व्रजभावनात्मिका जिनसे शक्य न हो ऐसे मध्यमाधिकारिओंके लिये हैं.

तीसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सर्वनिर्णयके प्रकाशमें निरूपित हुआ है कि "**विकल्पएव एषां स्थानानाम्**" (त.दी.नि.प्र.२।) जिन व्याख्याकारोंने इसमें हरिस्थानोंके विकल्पोंमें एक विकल्प श्रीजीद्वारका मान रहे हैं वे श्रीजी अपुष्टिमार्गीय पूजाप्रवाहस्थानोंमें जैसी है वैसी पूजाप्रवाहस्थानता ही स्वीकार कर रहे हैं. सो मुख्यकल्पके शक्य न होनेपर एक गौणकल्पके रूपमें ही. यह परन्तु भूलना नहीं चाहिये यह पूजाप्रवाह भी व्यावसायिक प्रकारसे पूजा चलाये जानेपर अवरुद्ध हो जाता है. दुःसंगस्थल बन जाता है हिरण्यकशिपुके जैसे भगवद्द्रोहीओंके कारण. इस तरह देखा जा सकता है कि जिस दुराशासे 'हरिस्थाने'का अभिप्रेतार्थ श्रीजीद्वार लिया है उसके कारण तो अनभिप्रेत सर्वसाधारण गौणता सिद्ध हो रही है. फेसबुककी एक पोस्टमें मेरे बारेमें विधान किया गया था कि या तो जीभ काट देनी चाहिये या सभाका त्याग करना चाहिये! वैसे न किसीने जीभ काटी और न किसीने सभात्याग किया! पर खुदकी जीभ खुदने ही काट कर अवश्य यहां दिखा दी, स्वमार्गीय सिद्धान्तोपदेशप्रदाता होनेके मोहवश!

(अपार्थकयुक्ति १३/आ)

श्रीमहाप्रभुजीने इस श्लोकमें किसीभी व्यक्तिगत या पारिवारिक

घरको 'हरिस्थान' नहीं कहा है. यहां 'हरिस्थान' उस स्थलको कह रहे जहां भगवान श्रीकृष्ण सभी भक्तोंके उद्धारके लिये बिराजते हैं. श्रीकाकावल्लभजी महाराज श्रीगोवर्धननाथजी एवं श्रीजगन्नाथजी इत्यादि स्थलको देवद्वाररूप हरिस्थान ही मान रहे हैं. पूर्णपुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्णकी व्रजलीलामें मुख्यतया पुष्टिलीलाकी प्रधानता हैं एवं श्रीमथुरा और द्वारिकामें मुख्यतया मर्यादालीलाकी प्रधानता है. पुष्टिमार्गमें श्रीमहाप्रभुजीने श्रीकृष्णका भजन व्रजाधिपकी भावनासे करनेकी आज्ञा दी हैं. श्रीनाथजीकी सेवा भी व्रजाधीपकी भावनाके रूपमें स्वीकार किया गया होनेसे श्रीजी पुष्टिप्रभु हैं.

(निराकरण १३/आ)

जहां "**जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत् च तत्परः**" (त.दी.नि.२।२५५) महाप्रभुजीने इस पुष्टिभक्तिके न निभनेके कारण प्रपत्तिमार्गीय गौणकल्प अर्थात् सतत पूजाप्रवाहवश भगवानके नित्य सन्निधि स्थलको 'हरिस्थान' कह श्रीजीद्वारा गिनाया नहीं और इन स्थानोंकी वैकल्पिकताके स्पष्ट उल्लेखके कारण जो गौणता प्रकट की अर्थात्

१.गृहस्थका प्रमुख कर्तव्य स्वगृहमें भगवत्सेवा.

२.वह शक्य न हो तो तीर्थयात्रा.

३.मुख्य या गौण कल्प भी स्वगृहमें शक्य न हो तो वहां नामभजनात्मक भागवतपरायण होना, परन्तु वृत्त्यर्थ नहीं.

४.वह भी शक्य न हो तो पूजाप्रवाहस्थानमें तत्परतया अवस्थान.

उतने चतुर्थकोटिके गौणकल्पमें एक अन्यतम कल्प श्रीजीद्वारको भी गिनना खुदकी जीभ खुद काट लेनेकी बाललीला है. सर्वनिर्णयनिबन्धमें

कहे गये और भक्तिवर्धिनीमें कहे गये 'हरिस्थान'के बीच सूक्ष्मतारतम्य स्थूलबुद्धिवालोंको समझमें न आ पाता तो उन्हें क्षम्य मान कर भी मोहभंगार्थ विवेचना तो आवश्यक है ही. सर्वनिर्णयमें इन हरिस्थानोंमें प्रवहमाण पूजाके प्रकारोंमें चतुर्थकक्षापतित पुष्टिजीवको तत्पर होनेका विधान है जबकी भक्तिवर्धिनीमें इन हरिस्थानों पर स्थित जो भगवत्सेवाकथापर भगवदीय हो उनके साथ रहनेका विधान है न कि स्वयं इन हरिस्थानमें तत्पर हो जानेका. अत: यहां भगवदाराधनाकी अक्षमतामें भगवदीयसंगपर विधिभार या आवश्यकताभार है. अत: ऐसे ऊटपटांग व्याख्यानमें खुदकी मतिमन्दताका ही केवल प्रदर्शन हुवा है.

किसी देवविग्रहका परब्रह्म परमात्मा भगवान पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण होना स्वत:सिद्ध मूर्तित्वकी उपाधिवश होता है कि परब्रह्मत्व परमात्मत्व भगवत्त्व श्रीकृष्णत्व की उपाधिके वश? उस मूर्तिविशेषरूपसे जो स्वीकारते हैं वह कतिपय या अनेक जीवोंके उद्धारार्थ होता है? प्रथम कल्प मूर्तित्वको उपाधिवश स्वीकारनेपर पुरुषोत्तमका अखण्डैक्य खण्डित हो जायेगा. द्वितीय कल्पमें विशेष मूर्तित्वकी उपाधिवश न होनेपर ऐसी इतर मूर्तिओंमें भी सिद्ध मानना ही पड़ेगा. अन्यथा मार्यादापुरुषोत्तम और पुरुषोत्तम ऐसे दो पुरुषोत्तम सिद्ध हो जायेंगे.

(अपार्थकयुक्ति १४)

श्रीगोकुलनाथजी २४में वचनामृतमें भी सभी वैष्णवोंको यह आज्ञा करते हैं कि श्रीगोवर्धननाथजीके दर्शनकी सदा सर्वदा आरति राखनो, यह न जाननो जो मैं दोय चारि बेर होय आयो हुं, सो ज्यों ज्यों दर्शन करें त्यों त्यों अधिक ताप करनो, जाने जो दर्शन करवेको फल कृपा करिके दियो है और श्रीगोवर्धननाथजीके टहेलवा व्रजमें रहत है तिनसो दोषभाव न राखनो, काहुको दोष न देखे और आछी बात होय सो समुझावे और न समझत होय तो भगवद्-इच्छा जाने, क्यों जो वे व्रजसंबंधी है, सो प्रभु विचारे बिना प्रभुके गाममें प्रभुके

पास कैसे रहें, ताते दोषबुद्धि न राखे. श्रीगुसांईजीके चतुर्थलालजी श्रीगोकुलनाथजी भी आप के २४में वचनामृतमें आज्ञा कर रहे हैं की लौकिक व्यवहार बने तो करे जानो, तामें जो भगवद्इच्छाते आय प्राप्त होय तामें ते श्रीनाथजीको अंश प्रथम काढ़िये, जब श्रीजीको भेटिया आवे तब तत्काल दे देय, यह न जाने जो मैं ही जाऊंगो. सतघरा प्रसंगके बाद भी श्रीनाथजीके भेटिया भेट लेने जाते थे ऐसा वर्णन भी श्रीगोकुलनाथजीके २४में वचनामृतमें स्पष्ट प्राप्त हो रहा है. अतः श्रीगोकुलनाथजी भी श्रीजीके वहां भेंट इत्यादि देनेकी आज्ञा सभी वैष्णवोंको कर रहे हैं.

(निराकरण १४)

महाप्रभुजीके समय जो मर्यादामार्गीय देवालय श्रीजीका बना वह व्रजाधिपकी भावनाका होता तो महाप्रभुके **''हमारे यहां देवालयकी नांई नहीं नंदालयकी नांई करो''** विधानद्वारा निज मनोभिलाषावाली नन्दालयकी सेवामें क्या अव्रजाधिपकी भावना समझनी? जबकि व्रजमें भगवान व्रजाधिप नहीं प्रत्युत व्रजाधिप नन्दरायके कुमार ही हैं. इसके विपरीत **''तांसो जगतमें पूजाय बहोत जीवनको उद्धार करनो है सो देवालयकी रीत यहां राखनी उचित है''**. **''बाधनं वा हीरच्छया''** विधानमें व्रजाधिपकी भावनासे पृथक् देवालयमें बिराजनेकी भगवदिच्छा द्योतित हुई हैं. सो पुष्टिभक्तिमार्गीय दीक्षा, सेवोपयिक स्थल, सेवोपयिक सामग्री और सेवक सभी बातोंमें नन्दालयके बजाय देवालयकी रीति अपनायी गयी. सतघरामें पधारकर प्रभुचरणके निजभवनमें दारागारादिपुत्राप्तवित्तेहादि सकल सम्पत्ति-विनियोगके बाद भगवदाज्ञया अथवा स्वमनोरथवश श्रीनाथजीका स्वरूप पारिवारिक हुआ; परन्तु, महाप्रभुद्वारा प्रवर्तित देवालयको निरस्त किये बिना. अतएव निज-आत्मजोंके सप्तगृहोंके भगवन्निधि और तत्सेवास्थलके विभागमें इन श्रीजीको अविभक्त रखा गया. देवालयके रूपमें तबसे अपने-अपने ठाकुरजीको श्रीजीके द्रव्यसे भोग न धरनेका सैद्धान्तिक आग्रह पनपा जो १२० वचनामृतकार आदि कबूल कर

ही रहे हैं. जिस संयुक्त पारिवारिक निधिकी सेवाका उत्तरदायित्व भी संयुक्त होनेके कारण ही श्रीगोकुलनाथजीने गिरधरजी बड़े लालजी मुरलीधरको टोका था. काका-भतीजाओंके बीच हुआ मनमुटाव अन्तमें मुरलीधरजीको विषदानके जघन्यस्तर पर्यन्त पहुंच गया. तिलकायतवादके वश पुनः सेवाप्रकारमें अनेकविध विचारोंके प्रकट होनेके ऐतिहासिक दस्तावेजरूप गोकुलनाथजीका वह संतापवचन है **''पहले श्रीजीका प्रसाद बिकता नहीं था''** जिसे मतिकी मन्दताके कारण अपार्थकयुक्तिदाता पुष्टिमार्गमें देवालयके **''बाधनं वा हरीच्छया''** प्रमाण तरीके प्रस्तुत करना चाहते हैं. खैर **''ज्ञानलवदुर्विग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति!''** अन्यथा वर्षके ३६० दिनोंमेंसे तिलकायतके भागमें तो ६० दिनकी ही सेवा थी शेष तीनसो दिन संयुक्तपरिवारके अन्यान्य घरोंके ३ दिन सेवाधिकारके थे. सो प्रत्येक गोस्वामिबालक प्रभुचरण गोपीनाथजीकी तरह अपनी भेंट प्रदेशयात्राकी और प्रत्येक पधरामनीकी भी प्रथम भेंट श्रीजीकी निकालनेके लिये हाथमें लेते थे और देवद्रव्यका स्पर्श न करनेकी भावनाके वश हाथमें वस्त्रके उपर लेते थे. पर अब तो पेटमें डालनेमें भी बाधा नहीं माननेकी वकालत करना अधःपात नहीं है क्या? जहां तक अपारिवारिक जनोंसे भेंट श्रीनाथजीकी स्वीकारी जाती थी उसे पारिवारिक देवालयके अपारिवारिक प्रकारतया तो लिया जा सकता है. एतावता ऐसे देवालयमें देवद्रव्य और देवसेवार्थ द्रव्यमें जब भेद मिटाया या भुलाया नहीं जा सकता. वहां देवद्रव्य होता नहीं और न उसके कारण कोई देवद्रव्यापहारका अपराध भी लगता है. उस देवालयमें भी देवसेवा/देवपूजाका प्रवाह प्रह्लाद्के बजाय हिरण्यकशिपुओं द्वारा सम्पन्न हो रहा स्वीकारना पड़ेगा. अतः जिसे महाप्रभुके **''सोनाकी कटोरी हती सो देवद्रव्य हतो. मेरो ह्वेके जो देवद्रव्य खावेगो सो मेरो नाहि कहावेगो पतित ह्वे जायेगो''** तथा **''पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् त्यक्तव्यम्''** (त.दी.नि.प्र.२।२३२) जैसे वचनोंको छिपाना उनके वंशज होनेपर भी कालिमा पोतने जैसी निष्ठाहीनता है.

(अपार्थकयुक्ति १५)

पंचमगृहके श्रीद्वारकेशजी महाराज (भावनावाले) अपने ग्रन्थ भावभावनामें यह आज्ञा करते हैं कि जब श्रीगोवर्धनशिला पधरावे, तब श्रीगुसांईजीके बालकके श्रीहस्तसो पधरावे. शिलाकी जो भेंट होय सो श्रीजीको भेंट करे. श्रीगोवर्धनके नाथ येही हैं. श्रीगोवर्धनमें धरे नहीं. भेंटको प्रमाण नहीं. जो बनी आवे सो धरे... ये श्रीद्वारकेशजीका प्रागट्य श्रीमहाप्रभुजीकी आंठवी पीढ़ीमें हुवा है अर्थात् सतघरा प्रसंगके बहुत समय बाद भी श्रीद्वारकेशजी वैष्णवोंको श्रीनाथजीकी भेंट निकालनेकी आज्ञा कर रहे हैं. अतः श्रीनाथजी सभी दैवीजीवोंके उद्धारके लिये बिराज रहे हैं इसी कारण श्रीद्वारकेशजी महाराज सभी भक्तोंको श्रीनाथजीकी भेंट निकालने की आज्ञा कर रहे हैं.

(निराकरण १५)

यह आज्ञा केवल पुष्टिमार्गीयोंको दे रहे हैं या अपुष्टिमार्गीय दैवी जीवोंको भी. प्रथम कल्प मान्य हो तो, शास्त्रानुपदिष्ट होनेपर भी, बड़ोंकी आज्ञाके रूपमें पुष्टिमार्गीयों द्वारा कथंचित् स्वीकारी जा सकती है. द्वितीय कल्प मान्य हो तो पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्णको गोवर्धननाथ मानना या उनके इस शैलविग्रहको गोवर्धननाथ मानना? सो कोई भी अपुष्टिमार्गीय हम पुष्टिमार्गीयोंको यह प्रश्न तो पूछ ही सकता है कि शैलविग्रह ही केवल गोवर्धननाथ हो तो व्रजलीलामें नन्दगृहमें लालित श्रीकृष्णके अवतारकालीन रूपसे भिन्न मानना पड़ेगा. क्योंकि अभिन्न मानेंगे तो उनके देवालयोंमें भी गोवर्धननाथ विराजमान होना सिद्ध हो जायेगा उसी श्रीकृष्णके भावात्मक विग्रह होनेके कारण ही. क्योंकि अन्यथा तो श्रीकृष्णसे भिन्न होनेके कारण श्रीरंग द्वारकानाथ तिरुपति जगन्नाथ आदि में अन्याश्रय दोष लगेगा. जब कि महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं अन्याश्रय न करके इन देवस्थानोंमें स्वयं पूजापरायण होना या ऐसे स्थानोंपर पूजासेवाकथापरायण भगवदीयोंके संगमें परायण होना. अतः सिद्ध होता है कि द्वारकेशजीकी यह आज्ञा केवल पुष्टिमार्गीयोंके

लिये ही है. ऐसी स्थितिमें "**अतः श्रीनाथजी सभी दैवीजीवोंके उद्धारके लिये बिराज रहे हैं इसीलिये द्वारकेशजी महाराज सभी भक्तोंको श्रीनाथजीकी भेंट निकालनेकी आज्ञा दे हैं**" यह विधान दो-चार आंखके अंधे और खुली गांठके अज्ञानी अनुयायी लोग हम महाप्रभुके वंशजोंको यत्र यत्र सर्वत्र मिल जाते हैं, तावता सभी दैवीजीवोंका अपनी आजीविका देवपूजासे चलानेकी जघन्यावस्थामें अधःपात मान लेना आवश्यक नहीं!

(अपार्थकयुक्ति १६)

सतघरा प्रसंगके बाद ही श्रीगोवर्धनलीलाकी श्रीसुबोधिनिजीमें योजना टीकाकार श्रीलालुभट्टजी आज्ञा कर रहे हैं कि.. "**अतएव गोवर्धनस्थायी श्रीगोवर्धननाथो अस्मत्सिद्धान्ते पुष्टिमार्गे देवइति तत्र देवत्वव्यव्हारो देवमन्दिरवत् तत्र ध्वजस्थापनादीति पुष्टिस्थैः विभावनीयम्**" (सुबो.यो.१०।२१।३५). अर्थ : इसीलिये गोवर्धनमें स्थायी श्रीगोवर्धननाथजी अपने पुष्टिसिद्धांतमें पुष्टिमार्गमें देव हैं. इसलिये श्रीजीद्वारमें ध्वजास्थापन होनेसे देवालयकी तरह देवत्वव्यवहार रखा है यही भावना पुष्टिमार्गमें रहे पुष्टिजीवोंको श्रीजीद्वारमें करनी चाहिये. श्रीलालुभट्टजी श्रीनाथजीके मंदिरमें ध्वजाकलशका उल्लेख करके इस मंदिरको देवालय ही मान रहे है. गोवर्धनलीलामें भगवान श्रीकृष्ण ही एक रूपसे नन्दरायजीके पुत्र बनकर व्रजभक्तोंको श्रीगिरिराजजीका पूजन करवाते हैं एवं दूसरे रूपमें श्रीगोवर्धनके नाथ बनकर श्रीगोवर्धननाथजीके रूपमें व्रजभक्तोंकी सेवा अंगीकार करते हैं. क्योंकि व्रजभक्तोंकी प्रीती श्रीकृष्णमें नंदरायजीके पुत्रके रूपमें थी किन्तु देवबुद्धिसे नहीं थी. इसी भावनाके अनुरूप आज भी प्राचीन परम्पराके अनुसार श्रीनवनीतप्रियजी श्रीगोवर्धननाथजीके यहां आप गोवर्धनपूजा करनेके लिये पधारते हैं एवं अन्नकूटभोग साथ ही आरोगते हैं. पुष्टिमार्गमें श्रीनवनीतप्रियजी नंदरायजीके पुत्रकी भावनासे गृहमें (नंदालयमें) बिराजते हैं एवं पुष्टिप्रभु श्रीनाथजी देवाधिदेवके रूपमें ध्वजाकलशवाले देवमंदिरकी तरह देवालयमें बिराजते है. (सुबो.यो.१०।२१।३५).

(निराकरण १६)

लालुभट्टजीके अनुसार श्रीजी देवालयकी भावनासे बिराज रहे है नन्दालयकी भावना घरमें बिराजते श्रीनवनीतप्रियजीकी है. अतएव गोवर्धनपूजार्थ उस दिन श्रीनाथजीके साथ अन्नकूट अरोगने पधारते हैं. वह तो प्रभुचरणके समय भी पधारे थे. उससे अधिक नूतन इसमें कौनसी बात कही गयी है! अन्तर केवल एक स्मृतिगत होता है कि तब लौकिकताको बढ़ जानेकी खेदोक्ति उस प्रसंगसे जुड़ी हुई थी, जो यहां निरूपित नहीं की गई, "**अतः एनां लीलाम् एनं भावं च समाश्रित्य अस्मन्मार्गे श्रीनवनीतप्रियो भगवान् गोर्वधनं पूजयति नन्दराजकुमारस्य गोवर्धनस्थस्वरूपस्य च स्वभोजनाद् गोकुलस्थगोवर्धनस्थस्वरूपयोः एकत्र भोजनलीलां प्रदर्शयितुं भगवदाज्ञां प्राप्य श्रीविट्ठलेश्वरैः श्रीनवनीतप्रियादिस्व-रूपाः गोकुलतः समानीय श्रीगोर्वधनधरेण महान्नकूटोत्सवसमये सह स्थापिताः**" (सुबो.यो.१०।२१।३५).

रही बात नन्दालयस्थ नन्दराजकुमार न होकर देवालयस्थ देव होनेकी तो अवतारकालमें तो उसका औचित्य यह दिखलाया गया कि व्रजवासिओंका रूढ़ भाव श्रीकृष्णके बारेमें नन्दगोपकुमार होनेका था और ऐसे श्रीकृष्ण गोर्वधनपर्वतको अपने इष्टदेव मानकर पूजनादि कर-करवा रहे थे तो इतरसर्वविस्मृतिपूर्वक श्रीकृष्णमें अनन्यासक्तिका भाव तो खण्डित होनेके कगारपर जा टिका था. उसे बचाने स्वयं श्रीकृष्णने शैलस्थदेव या शैलाधिदैव का खुलासा किये बिना अपना द्वितीय रूप प्रकट कर दिखाया. यह ठीक वैसे ही जैसे रासलीलामें दो-दो गोपियोंके बीच एक-एक खुदके अनेकरूप प्रकट किये. फलतः "**युवां मां ब्रह्मभावेन पुत्रभावेन चासकृत चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्**" (भाग.पुरा.१०।३।४५) वचनोक्त "**ब्रह्मभाव(माहात्म्यज्ञान= समर्पणद्वारा ब्रह्मसम्बन्ध) + पुत्रभाव(सुदृढ़स्नेहपूर्विका सेवा) = भक्ति**" के समीकरणको कण्ठोक्त उपदेश दिये बिना भी प्रभुने सिद्ध कर दिखाया.

अनवतारकालमें तो साक्षाद् मुखारविन्दोक्त उपदेश और साक्षात्स्वरूपलीलाकी प्रक्रियाको "**अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयताम्**" (सि.मु.१२) "**न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तं समर्पणं... सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति तथा कार्यं समप्यैंव सर्वेषां ब्रह्मता ततः**" (सि.र.५-८) उपदेश और "**सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः**" (चतुः.श्लो.१) आदि वाचनिक उपदेश द्वारा ही सिद्ध करना अभीष्ट माना गया है. अतः लीलोपदेश अनावश्यक ही है. फिरभी लौकिक बढ़ानेको दी गयी भगवदाज्ञा अनुल्लंघनीय होनेसे वैसी लीलाकी भावना उस प्रसंगमें सोची गयी, "**यथा चित्तं न दुष्यति**"न्यायेन. फिरभी स्वगेहाराध्य भगवत्स्वरूपसे प्रत्येक घरमें गोवर्धनशिलाका पूजनादिकी लीलाभावना करनेका श्रीजीद्वार पधरा कर ले जानेकी अनिवार्यताके बिना पांच सौ सालोंसे सभी घरोंमें अक्षुण्ण निभता चला आ रहा है. सो सैद्धान्तिक अनिवार्यता न रहने पर भी श्रीजीमें देवत्वबुद्धि और देवालयस्थ होनेकी भावना जो अनुसरी जा रही है वह प्रभुचरण गोपीनाथजीके "**हृदि कृत्वा पिधाय अस्य मन्दिरं बहिः आव्रजेत् स्रग्गन्धादि शिरो धृत्वा प्रणम्यैव गृहं व्रजेत्**" (साध.दीपि.११४-११५) वह श्रीजीके अलावा भी वैसी तरह देवालयमें बिराजते हों तो अनुमत है. ऐसे हम वल्लभवंशजोंके संयुक्तपरिवारके स्वत्ववाले श्रीजीके मन्दिरका मौलिक स्वरूप निरस्त कर उन्हें सार्वजनिक देव या देवालय होनेके रूपमें लेना तो गपोड़ाके टट्टु दोड़ाना ही है.

इस प्राचीन परिवारभावको खण्डित करनेके कारण ति.गिरिधरजीकी सेवा श्रीजीने छुड़ा दी ऐसा १२० वचनामृतकार कहते हैं "**और अब तो श्रीनाथजीके घरमें भैया-बंधूनको हक उठाय दीनों सो ताको प्रतिफल भयो सो अपन देखें हैं जो व्रजवास करनो पड़्यो**" (१२० वच.३९). उनके इस विधानको अन्य उद्धृत वचनोंके समान प्रमाण माननेसे कतरानेपर तो "**श्रीनाथजीको घर महाप्रभु-गुसांईजीने देवद्वार राख्यो है**" वचनका प्रामाण्य भी निरस्त हो जायेगा. मीठा-मीठा गप

और कड़वा-कड़वा थू-थू ऐसे चल नहीं पायेगा!

अत: ऐसे लचर आधारपर कितना महासाहसिक कथन प्रकट किया है :

> **"श्रीनाथजी पुरुषोत्तम होनेसे जीवके अधिकार अनुसार पुष्टि एवं मर्यादा इन दोनों फलका दान सभी दैवी (पुष्टिमार्गीय और अपुष्टिमार्गीय वैष्णव ही अथवा धर्मनिरपेक्ष हिन्दु मुस्लिम सिख ईसाई जैन बौद्धादि धर्मोका अनुसरण करनेवाले अदैवी जीव भी?)को करते हैं. जो भी जीव भावसे (पुष्टि अन्यथा मर्यादा) श्रीनाथजीके सन्मुख होता है, उसी जीवके भाव और अधिकारके अनुसार ही श्रीजी पुष्टि या मर्यादा फलका दान करते हैं."**

शाबास! मन्दिरव्यवसायके अधिवक्ता! जैनधर्मवाले भगवान् श्रीकृष्णको ६५ हजारवर्ष पर्यन्त महाभारतयुद्धकी हिंसाके कारण नरकमें दंड भुगत रहे हैं ऐसा मानते है. वे भी श्रीनाथजीके दर्शन-प्रसादका लाभ लेने वहां जाते ही हैं. क्या उनके भी मनोरथके अनुरूप श्रीजी स्वयंके दर्शन नरकलोकमें स्थित होनेका दर्शन प्रदान करेंगे? श्रीनाथप्राकट्यवार्ताके प्रामाण्यके आधारपर सेंकड़ो मन्दिरोंके (अन्तर्गत खुदके भी) ध्वंस करनेवाले औरंगज़ेबको साक्षात् आज्ञा करते हों तो जैनोंको क्यों नहीं?

कई शैव और शाक्त श्रीनाथजीको श्रीकृष्णका स्वरूप न मान कर बटुक भैरव या काली माताका स्वरूप मानते थे (द्र.खलालपनविध्वंसवाद) सो उनके भावको भी जगदुद्धारक पुरुषोत्तम देव होनेके कारण बटुक भैरवजीके तरह दर्शन प्रदान करते होंगे! पुणे विश्वविद्यालय पंदरह-बीस बरस तक गोवर्धन पर्वतपर सघन रिसर्च करनेवाली फ्रेंच विदुषी शार्ले वॉदोविलेने भी एक निष्कर्ष निकाला है :

तदनुसार बौद्ध धर्मके अनेक प्रधान केन्द्रोंमें एक गोवर्धनगिरि भी था, जो ऐतिहासिक दस्तावेजोंके आधार अनिराकार्य भी है; और, प्रस्तुत श्रीजीका स्वरूप बौद्ध धर्मके यक्षका स्वरूप है, ऐसा उसने प्रतिपादित किया है. सो उस भावसे भी दर्शन-प्रसाद लेनेवालेको भी उसके भाव और अधिकार अनुरूप श्रीजी फलदान करेंगे क्या? जहां तक पूर्ण पुरुषोत्तमके कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् सामर्थ्यका प्रश्न है, नहीं कर सकते ऐसा माननेपर सामर्थ्यका अस्वीकार होगा. यदि कहो कि ऐसा सोचनेवाले दैवी जीव नहीं होते तो जन्मस्थान मथुरा वृन्दावन काशी आदि अनेक देवालयोंके विध्वंसक औरंगज़ेबको भी श्रीजीने आज्ञा दी थी वो कैसे सिद्ध हो पायेगी? अत: औरंगज़ेब यदि दैवी जीव हो सकता हो तो वेदोंमें प्रतिपादित बटुक भैरव यक्ष आदिके रूपमें श्रीजीके भजन करनेवाले अधिकाधिक तामस हो सकते हैं आसुरी तो नहीं!

यों देखा जा सकता है कि यह जो रिसर्च की है वह ऐसी है कि खुदकी जीभ काट लेनेकी बुद्धिमत्ता उजागर हो गयी है! ठस्स दीमागमें तो कोई बात जल्दी बेठ नहीं पाती. सिद्धान्त परन्तु साकारब्रह्मके तादात्म्यवादके आधारपर यही है कि स्वरूपभेदवश लीलाभेद माना नहीं जाता प्रत्युत लीलाभेदवश स्वरूपभेद माना जाता है. जिसे भगवान् अपने विभिन्न भाव और अधिकार वाले भक्तोंको अनुभव कराते हैं. वैसा अनुभव करानेके बावजूद वो अपनी एकमेवाद्वितीयताको भी निभाते हैं. भक्त परन्तु, अनेकभावापन्न होकर की जाती लीलामें प्रकट होनेके कारण अभेदका अनुभव करने समर्थ नहीं हो पाते. अतएव लीलाभेदसे जीवोंमें भावभेद प्रकट होता है. भावभेदसे रसात्मक प्रभुका आलंबनविभावात्मक स्वरूप भिन्न प्रकट हो जाता है, उस तरफ. इस तरफ जीवोंमें प्रवाहमार्ग मर्यादामार्ग या पुष्टिमार्ग अथवा चर्षणीमार्ग के अधिकारभेद भी प्रकट हो जाते है. अन्तमें साधनाभेद प्रकट होता है. यदि स्वरूप मर्यादापुरुषोत्तम और पुष्टिपुरुषोत्तम ऐसे

दो होते तो एक प्रवाहपुरुषोत्तम होनेका तीसरा भेद भी हरिमें स्वीकारना पड़ेगा. **''सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः''** (पु.प्र.म.८-९). तीनों मार्गोंके प्रकटकर्ता एकमात्र श्रीहरिको नहीं माननेपर तो श्रीहरिके परमेश्वरत्वको अस्वीकार करना पड़ेगा. अथवा विभिन्न मार्गोंके प्रकटकर्ता विभिन्न भगवद्रूपोंको मानने पर तीनोंमेंसे किसी भी एकमें **''जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्''** (ब्र.सू.१।१।२) सृष्टिकारकत्वलक्षण और शास्त्रप्रमेयता खण्डित हो जायेगी. जैसे ही लीलाभेदसे साधनाभेद और साधनाभेदसे स्वरूपभेद मानने जायेंगे तो जहां पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीमें भी मर्यादाभक्तिको अंगतया अथवा अनुकल्पतया अनुज्ञप्त होनेके तथ्यको झुठलाया वहां वहीं श्रीजीका स्वरूप भी न तो औत्सर्गिक भजनभावविभावात्मकतया और न आपवादिक भजनभावविभावात्मकतया अक्षुण्ण रह जायेगा. भेद प्रकट होगा ही.

ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तविपरीत स्वरूप निभानेपर भी स्वरूपमें तारतम्य न आता हो तो भागवतके नामात्मक स्वरूपपरभी वहीं बात लागू होगी. तब **''इति जीवेन्द्रियगताः नानाभावं गता भुवि रूपतः फलतश्चैव गुणाः विष्णोः निरूपिताः''** (ज.भे.२१) यों जीवगत भावभेदवश हरिगुणोंमें भी हरिनामोंका रूपभेद और फलभेद का सिद्धान्त भी खण्डित हो जायेगा. तब **''इदं नामात्मकं भगवत्स्वरूपं तत्स्वरूपविक्रेतरि विक्रयातिरिक्तं फलं न साधयति''** (त.दी.नि.प्र.३।१।२७) सिद्ध नहीं हो जायेगा. क्योंकि वक्ताका भाव कितना भी दूषित क्यों न हो श्रोताका शुद्धपुष्टिभाव होनेपर शुद्धपुष्टिफल मिलना आवश्यक हो जायेगा. ऐसी स्थितिमें अपार्थकयुक्तिदाताका यह विधान — **''श्रीनाथजी साक्षात् पुरुषोत्तम होनेसे सभी जीवोंके उद्धारार्थ समर्थ हैं''** यह क्योंकि श्रीजीका नामात्मक भागवतपुराण भी सर्वोद्धारक होनेपर भी खुदके विक्रयकर्ता कथाकार व्यासको विक्रयातिरिक्त कोई फल प्रदान नहीं करता. सो वही बात श्रीजीके स्वरूपपर भी लागू होगी. यों पुरुषोत्तम होना या परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण

होना इस मुद्देमें नियामक नहीं रह जायेगा. अन्यथा चर्षणी प्रवाह मर्यादा और पुष्टि रूपी सभी मार्गोंके प्रभेद ही असिद्ध हो जायेंगे. एकमात्र पुरुषोत्तमकी त्रिविध या चतुर्विध लीलाके सिद्धान्तके कारण. इतनी स्थूल बात जिसे समझमें न आती हो वह विश्वव्यापी मुखग्रन्थ (फेसबुक) द्वारा महाप्रभुजीके सिद्धान्तको उपदेश करनेका साहस दिखाये तो **''अव्यापारेषु व्यापारं''**के अलावा और क्या बखान उसके हो सकते हैं!

अन्यथा आजीविकार्थ सकामभक्तिको प्रभुचरणने जो अपराध माना वह भी उपपन्न नहीं हो पायेगा (द्रष्ट.भ.हे.नि.). जैसे श्रीभागवतका स्वरूप पुष्टिपुरुषोत्तमात्मक है वैसे ही भगवन्नाम भी पुष्टिपुरुषोत्तमात्मक माने गये हैं. जैसे श्रीजी जीवके अधिकार और भावके अनुरूप पुष्टि एवं मर्यादा सभी तरहके फलोंका दान सभी दैवी जीवोंको करते हैं, वैसे ही भागवतपे भी लागू होगा ही. यदि, किसी तरहके निषेधके वश लागू नहीं होता मानते हो तो, वह श्रीनाथजी पर भी लागू होगा. दीमागी ठस्सताको प्रताप ऐसा ही इतनी स्थूल बात भी बुद्धिगत नहीं हो पाती.

(अपार्थकयुक्ति १७)

श्रीनाथजीके पुरुषोत्तम रूपमें देवालयमें बिराजकर अनेक पुष्टिजीवोंको पुष्टिफलका दान करनेके अनेक उदाहरण ८४ एवं २५२ वैष्णवोंकी वार्तामें प्राप्त होते हैं. (पाथोगुर्जरी, सदु पाण्डे, उनकी माता और उनकी बेटी नरो, सदु पांडेका भैंसा, पूरनमल क्षत्री, त्रिपुरदास कायस्थ, अष्टसखा, दो भाई पटेल गुजरातके, एक कुनबी पटेल गुजरातको, गोपीनाथदास ग्वाल, एक गूजरके बेटाकी बहु, गोपालदास भीतरिया, रामदास खाम्बाइचके, एक व्रजवासी परेवालो, कल्याण भट्ट खंबालियाके, एक बीनकार, एक क्षत्री पूर्वको, रूपा पोरिया, एक चूहडा, माधुरीदास माली, एक क्षत्री जो लक्ष रूपयाको गुलाबको फूल लायो, स्त्री-पुरुष

ब्राह्मण पूर्वके, अजबकुंवरिबाई, रूपमंजरी, राघौदास, रसखान, ताजबीबी इत्यादि उदाहरण). श्रीनाथजी व्रजसे मेवाड़ पधारे उस समय मार्गमें जब बीसलपुर गाम आया तब श्रीनाथजीने बीसलपुरके एक वैरागीको दर्शनके लिये बुलाया और राजभोगके लिये एक पट्टा लानेकी भी आज्ञाकी. बीसलपुरके वैरागीको भी श्रीनाथजीने सेवादर्शनका लाभ दिया था. सिंहाड़ (नाथद्वारा) पधारनेके बाद बाटरा गाममें पर्वतकी गुफामें एक ऋषीश्वर हजारों वर्षसे तपस्या कर रहे थे उनको भी दर्शन देने और उनका उद्धार करने श्रीनाथजी बाटरा गाममें पधारे. (द्रष्ट.श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्ता). अतः सभी दैवीजीवोंका उद्धार श्रीनाथजीने किया ही है.

(निराकरण १७)

इतने ही उदाहरण क्यों गिनाये? और भी गिनाये जा सकते थे! लेकिन ऐसे उदाहरणोंके कारण सैद्धान्तिक निष्कर्षका बाल भी बांका नहीं हो सकता है. वह सैद्धान्तिक निष्कर्ष है : अपार्थक युक्तिदाताके वृद्ध प्रपितामह गोविंदप्रभुका **"मूलग्रन्थाऽविरुद्धो अंशो भाषाग्रन्थेषु दृष्यते मान्यो, न अन्यो अत्र मान्यो हि, ज्ञेयो असौ धूर्तकल्पितः"** (उ.सु.१६४). और प्रपितृव्यमह श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजीकी ८४ वैष्णव २५२ वैष्णवनकी वार्ता छपवानेके विचार पर सम्मति पूछनेपर आपने जो आज्ञा की थी **"जो प्रथम तो यह वार्ता ठीक हती परन्तु पाछेंते लेखकनने अपनी लिखाईके लोभसुं मनमें आवे तैसे गपोड़ा लिख-लिखके पुस्तक बढ़ाये ग्रन्थ बड़े-बड़े कर केवल द्रव्य उपजायवेके साधन कर दिये हैं. तद्वत् उन गपोड़ानपे भरोसो नहीं राख्यो जाये... कारण ग्रन्थकर्ताका आशय एक होय और टीकाकार अपनो ही टट्टु चलावे"**. (संवत १९४८ बृ.स्तो.स.सा.भूमि. पृष्ठ ११).

इस तथ्यके उद्घाटनद्वारा इन पिता-पुत्रने कोई अनुचित विधान किया हो ऐसा नहीं लगता, सिवाय इसके महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा कण्ठोक्त

उपदेशोंकी प्राचीन भगवदीयोंके चरित्रोंसे सोदाहरण व्याख्या संभव हो तो अकारण उन्हें गपोड़ा ही माननेका दुराग्रह अयुक्त है. हर स्थितिमें श्रीनाथजीकी प्राक्ट्यवार्ता तो अनेकानेक ठोस हेतुओंके आधारपर इतिहासविरुद्ध, सिद्धांतविरुद्ध, अतिरंजित कल्पनाओंके गपोड़ाके दौड़ते टट्टुओं के अलावा और कुछ नहीं है. अतः प्रामाण्य सर्वथा संदिग्ध ही है. प्राचीन विद्वानोंके ग्रन्थोंमें इसमेंसे एकाद् वचन उद्धृत भी हुआ हो तो "प्रक्षिप्ताध्यायत्रयी"के वचनोंके न्यायसे उद्धृत समझना चाहिये. क्योंकि स्वयं महाप्रभुने भी प्रक्षिप्त मानकर भी उनपर न केवल सुबोधिनीव्याख्या लिखी अपितु उन लीलाओंके आधार भगवन्नाम भी प्रकट किये सो प्रतिवादिजनोंके मुखमुद्रणार्थ जैसे पुरुषोत्तमजीने शंकराचार्यके वृद्धगुरु गौडपादकी बौद्धदर्शनानुकारी माण्डूक्यकारिकापर शुद्धाद्वैतवादके अनुसारी टीका लिख दिखायी. उसी न्यायसे यहां भी ले लेना जरुरी है.

(अपार्थकयुक्ति १८)

देवालयमें बिराजते होनेपर भी श्रीनाथजी पुष्टिप्रभु हैं इसका उल्लेख चतुर्थलालजी श्रीगोकुलनाथजी गोविन्ददास भल्लाकी वार्ता (प्रसंग २)में करते हैं कि तब क्षत्री (गोविन्ददास भल्ला) अहंकारमें (श्रीजीकी) सेवा छोड़ि दीनी, पाछे मथुरा आयो. परन्तु बिना सेवा-पूजा रह्यो न जाय, दैवी है. तब केसोरायजीकी सेवा इजारे लीनी. सो विपरीत किये. यह वार्ताप्रसंगके भावप्रकाशमें श्रीहरिराय महाप्रभुजी आज्ञा करते है कि श्रीगोवर्धननाथजीकी सेवा छोड़ि फेर मर्यादामें गये, ताते विपरीत भये, सो कहत है. और पुष्टिमार्गीय श्रीठाकुरजीकी सेवा छोड़िके मर्यादामार्गीय श्रीठाकुरजीकी सेवा न करनी. जब गोविन्ददास भल्ला स्वयंके अहंकारवश पुष्टिप्रभु श्रीनाथजीकी सेवा छोड़कर मर्यादाप्रभु श्रीकेशवरायजीकी सेवामें गए तब पुष्टिमें से मर्यादामें जानेके क्रमको चतुर्थलालजी श्रीगोकुलनाथजी और भावप्रकाशकार श्रीहरिराय महाप्रभुजी विपरीत बता रहे हैं. गोविन्ददास भल्लाके समय भी बंगाली सेवक ही श्रीनाथजीकी सेवा करते थे फिर भी श्रीगोकुलनाथजी और श्रीहरिराय महाप्रभुजी श्रीनाथजीके स्वरूपको

पुष्टिप्रभु ही मान रहे है.

(निराकरण १८)

औत्सर्गिक नियम जैसे सिद्धान्ताभिमत होता है ऐसा ही आपवादिक नियम या आचरण भी सिद्धान्ताभिमत हो तो मान्य होता है. सिद्धान्तविरुद्ध हो तो मान्य नहीं होता. हम देख चुके हैं सिद्धान्ततः जो अपवादतया अभिमत था वो **"तासों देवालयकी रीति राखनी यहां उचित है"** वह चरित्रमें, उसी तरह नवरत्न, सर्वनिर्णय, एकादशसुबोधिनी आदि ग्रन्थोंमें भी आपवादिक सिद्धान्त था. उस कालमें पुष्टिफलदान पुष्टिभक्तिभावोंके आविर्भाव होनेमें क्षति नहीं हो सकती. परन्तु न तो औत्सर्गिक सिद्धान्त और न आपवादिक सिद्धान्त प्रत्युत दोंनोंसे जब विरुद्ध कोई प्रकार चलता हो तो, वहां लीलाभेदवश साधनभेद और साधनाभेदवश स्वरूपभेद न माननेपर श्रीनाथजीको भैरवजीका रूप मानकर* श्मशानकी राख और मदिराभोग लगायें तो पुरुषोत्तम होनेके कारण उस प्रसादको भी ग्राह्य मानना कि नहीं? क्योंकि पुष्टिपुरुषोत्तम होनेपर भी श्रीतुलसीदासजीको

---

* जैसेकी श्रीनाथद्वारा में अधिकारी पदपर रहे बादमें ब्लाकटानन्द बन पुष्टिमार्गके विरोधी बन जानेवालीकी श्रद्धा श्रीनाथजी भैरवकी मूर्ति हैं ऐसी थी. यह कथा तब स्वमार्गीय सामयिकोंमें भी प्रकाशित हुई थी और वॉदोविलेने भी आलेखपत्रमें उद्धृत की है : The Blakatananda "revelation" Fortuitous circumstances and the help of an Indian friend in Vridavan allowed the author to lay her hands on a rare and very badly printed book, which had been compiled by a former Administrative Manager of the Nathdvara Vallabhite gaddi. In order to preserve his anonymity, the writer of the book had assumed the rather improbable name of "Blakatananda". The book was printed by the Arya Bhushan Press in V.S.1919 (A.D.1862), with the promising title:

मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें दर्शन दिये थे. ऐसे ही बालबोधके **"अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतया उदितौ... निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता"** (बा.बो.११-१३) इन वचनोंके रहते दैवीजीव तो मानना ही पड़ेगा!

Vallabhkula chala kapata darpana

athava

Vallabhkula ka kacca cittha

i.e."The Mirror of the Lies and Treachery of the Vallabhites" or "The Detailed Account of the Deeds of the Vallabhites".

As a kind of preface, the author describes the former "Sri Nathji" temple whose ruins are seen on the Govardhan hill at Anyor. According to him, the Anyor area was the principle place occupied by the Buddhist and the temple itself was built over and old Buddhist cave. In the first century B.C., Kaniska erected a murti of "Buddhadeva" on the spot. A number of Buddhist icons were found in the vicinity, "which somehow resembled Srinathji". Among the "Buddhist" icons, the author mentions Bhairava, Hanuman, some Yaksas and a Yaksini Devi "to whom the Hindus gave other names".

According to the Blaktananda Purana, Madhvendra Puri had discovered "a Bhiarava murti" in a bush and had installed it in the former temple of "Buddha Bhagavan". When Madhvendra Puri left Braj, he entrusted the temple to some Bengali pujaris, whereas Vallabhacharya established himself at Adail. With a view to appropriate his father's riches, Vallabhacharya's second son, Gosain Vitthalnath, went to Giriraj where the Bengalis were worshipping "Bhairava Yaksa"

श्रीनाथजीके बारेमें ऐसी पुष्टिमार्गविरोधी धारणा नूतन रिसर्च नहीं है क्योंकि पुरुषोत्तमजीने भी 'खलालपनविध्वंसवाद'में ऐसी ही विरोधी धारणाका खंडन किया है (निरा. कार).

यह सब कुछ सिद्धान्तनिष्ठा हो तो सरलतया समझमें आ सकता है. बुद्धिके ठस्स हो जानेपर गले न उतरती हो तो भी चिन्ताकी कोई बात नहीं. क्योंकि श्रीजीने ऐसे जघन्यभावोंको पूर्ण करनेकी कोई लीला अपने कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् सामर्थ्यसे प्रकट की होगी ऐसा मानकर भी निश्चिंत हुआ जा सकता है. जहां तक भल्लाजीके बारेमें **"तब क्षत्री अहंकारमें श्रीजीकी सेवा छोड़ी दीनि. श्रीगोर्वधननाथजीकी सेवा छोड़के फिरि मर्यादामें गये तातें विपरीत भयो और पुष्टिमार्गीय ठाकुरजीकी सेवा छोड़ी मर्यादामार्गीय ठाकुरजीकी सेवा न करनी"** निन्दावचन यदि एकान्तिकतया मर्यादामार्गीय रीतसे भजनीय देवमूर्तिओंपर लागू होती हो तो **"जगन्नाथे..."** आदि महाप्रभु - गोपीनाथजीके वचन बाधित हो जायेंगे. वे बाधित न हो तो आचार्योपदिष्ट होनेके कारण तो भाषाग्रन्थोंके गपोड़ा सिद्ध होंगे. इन भाषाग्रन्थोंके गपोड़ाके टट्टुओंसे पृथक् करना हो तो केवल एक ही दिशा शेष बचती है मर्यादामार्गीय पुरुषोत्तमके स्वरूप और पुष्टिमार्गीय पुरुषोत्तमके स्वरूप में स्वरूपभेद न होनेपर भी लीलाभेद और लीलाभेदवश भजनरीतिके भेद होनेके कारण औपाधिक स्वरूपभेद तो तब भी स्वाभाविक अभेद रहता ही है.

---

and "Kalyani Yaksini Devi". They did not allow the Vallbhites to enter the temple. Then Vitthalnath recruited a crowd of "badmashes" to expel the Bengalis by force. Having succeeded in taking hold of the temple, Vitthalnath named the old Bhairava murti "Devadaman", "because the latter had triumphed over Buddhadeva".

और जैसे ही यह स्वीकारा तो मर्यादाजीव और उनके भक्तिभावोंके विभाव मानते हैं तो श्रीजीपर भी वह मर्यादापुरुषोत्तम होनेका दोषारोपण लग जायेगा. श्रीजीपर लगने न देना हो तो उनपर भी न लगेगा. फलतया सारी बात टिकेगी पुनः वहींपर जहां मर्यादारीतिसे देवालयाराधना चलती हो, वहां स्वरूप नन्दालयकी भावनाका विभाव नहीं बनता है. यदि पुरुषोत्तम होनेके कारण यहां उभयविधभक्तिभावोंका विभाव बनता हो पुष्टिमार्गांगीकृत जीवकी **"अंगीकृतिश्च नित्या"** (परि.पत्रो.वि.६) वचनके अनुरोधवश वहां केशौरायजीका स्वरूप भी उभयविधभावनाका विभाव बनेगा ही. क्योंकि महाप्रभुद्वारा ब्रह्मसम्बन्धके कारण भल्लाजीका पुष्टिजीव होनेके कारण केशौरायजीमें भी उनका भाव पुष्टिभावात्मक ही होगा. और यों सर्वथा निष्कर्ष तो यही निकलेगा कि पुष्टिमार्गीय जीवको अपुष्टिमार्गीय आराधनाके प्रकारमें सम्मिलित नहीं होना चाहिये. यदि सिद्धान्तोपदिष्ट अपवाद श्रीजीके प्रकारको मानते है तब तक वह स्वरूप पुष्टिरूप रहेगा जब तक सिद्धान्तोपदिष्ट अपवादतया देवालयरीत्या आराधित होता हो. देवस्वरूप प्रसाद-भजनादि आजीविकार्थ देवव्यवसायतया चल रहा हो तब तो वही स्वरूप माना नहीं जा सकता. जहा तक अहंकारकी भल्लाजीकी बात है तो वह तो देवद्रव्य खानेसे इन्कार कर रहे थे जिसे स्वयं महाप्रभुने **"देवद्रव्य खायेगो सो पतित ह्वे जायगो मेरो नाहीं कहावेगो"** मान्य रखा होनेके कारण ऐसे तो नहीं आज्ञा दी कि देवद्रव्य खाया जा सकता हैं. जब महाप्रभुने खुदके भंडारसे लेने को कहा तब भी भल्लाजीका प्रतिवाद — **"गुरुअंश कैसे ले"** सुन कर महाप्रभुजीको यह कहना क्या उचित न था कि **"ले लो लिया जा सकता है"** यदि महाप्रभु खुद ऐसी आज्ञा कर देते तो भल्लाजी लेही लेते. ऐसे होता तो महाप्रभुजीको श्रीजीकी सेवा छोड़नेकी आज्ञा भी न देनी पड़ती. **"देवद्रव्य लिया जा सकता है!"** ऐसी आज्ञा न देकर **"सेवा छोड़ दो"** आज्ञा दी. तो आज्ञाका ही तो पालन किया उसमें अहंकारकी क्या बात है? अतः ऐसे अहंकारकी तो कोई बात नहीं थी परन्तु **"क्लिष्टं न समर्पयेत्"**

(त.दी.नि.प्र.२।२३६) आज्ञाका बाध होनेके कारण श्रीजीने "**तिहारे सेवक मोको खिजावत हैं**" (८४ वै.वा.११।१) शिकायत की तो आज तो दर्शनार्थी जनतासे द्रव्य ऐंठनेका क्लेशका विचार होता तो श्रीजी कितना खीजे हुवे होंगे! ऐसा प्रकार पुष्टिमार्गीय कैसे हो सकता है?

(अपार्थकयुक्ति १९)

श्रीहरिराय महाप्रभुजी श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्तामें यह आज्ञा कर रहे हैं कि अब नित्यलीलामें श्रीगोवर्धननाथजी श्रीगिरिराज पर्वतकी कन्दरामें अनेक भक्तन सहित अखण्ड बिराजमान हैं. वहां श्रीआचार्यजी महाप्रभु सदा सर्वदा सेवा करत हैं, जब दैवी जीवनके उद्धारार्थ भगवद् आज्ञाते धरणिमण्डलमें प्रादुर्भूत भये, तब आपके सर्वस्व श्रीगोवर्धननाथजी हूं को अखिल लीलासामग्री सहित व्रजमें प्रादुर्भाव भयो. इस बातसे यह ज्ञात होता है कि जिस स्वरूपसे श्रीनाथजी नित्यलीलामें बिराजके भक्तोंको पुष्टिफलका दान कर रहे थे, जब श्रीमहाप्रभुजीका भूतलपर प्राकट्य हुआ तब वही पुष्टिप्रभु श्रीनाथजीके स्वरूपका भी व्रजमें श्रीगोवर्धनपर्वतमेंसे प्राकट्य हुआ. श्रीहरिराय महाप्रभुजीके वचनामृतके अनुसार देवालयमें बिराजते होने पर भी श्रीजी पुष्टिजीवोंपर कृपा करके पुष्टिफलका दान भी करते हैं. अतः श्रीनाथजी पुष्टिप्रभु हैं.

(निराकरण १९)

हम देख चुके श्रीनाथजी प्राकट्यवार्ताकार गोकुलनाथजी एवं हरिरायजी के वचनोंका संग्रहका दावा करता है. सो वह कितने वचन श्रीगोकुलनाथजीके और कितने वचन श्रीहरियायजीके और वहभी कहां-कहांसे संग्रहीत वचनोंके आधारपर प्रकट किये गये हैं, उनके स्थलोंका निर्देश या संवाद न मिलनेपर हरिरायजीके वचन नहीं परन्तु नाम छिपानेवाले किसी धूर्तके ही वचन मानने चाहियें. "ज्ञेयो असो धूर्त कल्पित" न्यायसे. परन्तु "**श्रीजी पुष्टिजीवोंपर कृपा करके पुष्टिफलका दान**

भी करते है अतः श्रीनाथजी पुष्टिप्रभु है" तो पुष्टिफलदानसे जैसे पुष्टिप्रभु होना सिद्ध हो रहा है वैसे मर्यादाफलदानसे मर्यादाप्रभु और प्रवाहफलदान करनेपर श्रीजीका प्रवाहप्रभु होना भी तब स्वीकारना पड़ेगा. अन्यथा पुष्टिफलदान हेतुके आधारपर पुष्टिप्रभु होना भी सिद्ध नहीं हो पायेगा. आज श्रीजीके नामात्मक भागवत जैसे "**भगवत्स्वरूपविक्रेतरि विक्रयातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति**" न्यायसे विक्रयातिरिक्त फलदान न करती हो तो भजनार्थ निषिद्ध स्वरूप होना भी गलेपतित क्यों नहीं होगा?

फिर भी आचार्यचरणके कुछ एक रूपोंमें प्रभुचरण गोपीनाथजीद्वारा "**सौंदर्यं**"पद्यमें वर्णित एक त्रितयात्मक स्वरूप है. दूसरा "**श्रीकृष्णास्य**"स्वरूप सर्वोत्तमस्तोत्रमें (सर्वो.७) वर्णित हुआ है. तीसरा "**श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथ-नक्षमः तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रहः**" (सर्वो.१६). चौथा रूप "**तस्यैव आत्मानुभाव-प्रकटन-हृदयस्य आज्ञया प्रादुरासीद्, भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिरति-करुणः**" (श्रीवल्ल.स्तो.१) और पांचवा रूप स्वकण्ठोक्त रूप "**अर्थं तस्य विवेचितुं नहि विभुः वैश्वानराद् वाक्पतेः अन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवत् श्रीपतिः**" (सुबो.१।१।१). इन प्रमुख स्वरूपोंमें से तो किसी एक रूपमें श्रीनाथजीकी सेवामें गोवर्धनगिरिमें सदा अवस्थित होना उपपन्न होता नहीं है. क्योंकि प्रथम स्वरूप तो प्रकटित स्वरूप है सदावस्थित नहीं. द्वितीय स्वरूप सदावस्थित है पर सेव्य-सेवकभाव रहित स्वरूप है. तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम तो भूतलपर प्रकट होकर सुबोधिनीके लेखनके बाद या लेखनार्थ प्रकट हुवा स्वरूप है. भगवदाज्ञया भूमिपर प्रकट हुए सन्मनुष्याकृतिरूपसे तथा भागवतार्थविवेचननिरत स्वरूपसे भी गोवर्धनगिरिमें सदा गोवर्धनधरकी सेवामें रत होनेका वृतान्त भी असमञ्जस लगता है. अतः "**प्रादुर्भूतेन भूमौ व्रजपति-चरणाम्भोज-सेवाख्य-वर्त्म-प्राकट्यं यत् कृतं ते तदुत निजकृते श्रीहुताशेति मन्ये. यस्माद् अस्मिन् स्थितौ यत् किमपि कथमपि क्वापि उपाहर्तुम् इच्छति अद्धा तद् गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे करोति**" (श्रीवल्ल.स्तो.४) वर्णित स्वरूप माने

तो वह तो कहीं भी कभी भी सर्वत्र विद्यमान रहता है. तदन्तर्गत गोवर्धनगिरिमें भी अवस्थित हो तो ऐसी विशेषोक्तिसे कोई इतरव्यावृत्तिपूर्वक अभिप्रेतार्थका लाभ होता नहीं. इस असंमजसताका समाधान न किया जाये तब तक यह विधान भी हृदयारूढ़ नहीं हो सकता है, अन्यथा उपदिष्ट सिद्धान्तोंसे विरुद्ध न होनेपर भी. फिरभी किसी अचिन्त्यरूपेण बिराजमान हों भी तो श्रीनाथजीको वही बिराजे हुवे क्यों नहीं मान लेना? और क्यों सिंहाड़ बिराजनेकी अजबकुंवरीके बाद पुनः जो जतिपुरा पधारवेकी कथा कही जा रही है? वह तो स्वतोनिरस्त हो जाती है.

(अपार्थकयुक्ति २०)

आजकल कुछलोग ऐसा कहते हैं कि यदि श्रीनाथजीका देवालय पुष्टिसिद्धान्त हो तो फिर श्रीमहाप्रभुजी एवं श्रीगुसांईजी जतीपुरामें ही घरका निर्माण करके क्यो नहीं बिराजे? श्रीनाथजी देवालयमें बिराजते होनेसे देवमन्दिरका उपयोग अपने व्यक्तिगत कार्यमें करनेसे दोष है. इसी कारण श्रीमहाप्रभुजी एवं श्रीगुसांईजी जतीपुरामें घरका निर्माण करके नहीं बिराजे हैं. इस प्रश्नका उत्तर स्वयं श्रीगुसांईजीने भी दिया हैं. २५२ वैष्णवोंकी वार्तामें यह उल्लेख है कि जब ऋषिकेशजीने श्रीगुसांईजीसे यह विनती कि श्रीनाथजी और श्रीनवनीतप्रियजी एक ठोर बिराजे तो आपको श्रम न होय तब श्रीगुसांईजीने ऋषिकेशजीसे कहा कि जो सदा श्रीजी और श्रीनवनीतप्रियजी पास बिराजे तो इतनी आरति हमको न होय. काहेंते जब श्रीनवनीतप्रियजीके निकट हम रहत हैं तब तो श्रीनाथजीको स्मरण होत है, तब विरह होत है. पाछे जब श्रीजीद्वार जात हैं तब श्रीनवनीतप्रियजीको स्मरण होत है, जो बालक है, बेगि जायो चाहिये. या प्रकार आरति सिद्ध होत है. तातें श्रीजी श्रीगोवर्धनपर्वत पर सदा बिराजे, श्रीनवनीतप्रियजी श्रीगोकुलमें सदा बिराजे. ताहीमें आछो है. इसलिये ही श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रमें श्रीगुसांईजीका नाम है

'गोवर्धनागमरताय नमः' अर्थात् आप गोवर्धन आनेके लिये उत्सुक है. इस तरह श्रीमहाप्रभुजीका भी नाम है 'गोवर्धनस्थित्युत्साहः' अर्थात् श्रीगोवर्धनपर्वत समीप रहनेमें सदा आपका उत्साह है. श्रीगुसांईजी जतिपुरामें घरका निर्माण करके क्यो नहीं बिराजे इस बातका स्पष्टीकरण स्वयं श्रीगुसांईजी ही ऋषिकेशजीकी वार्तामें कर रहे है कि आपश्री(श्रीगुसांईजी) पुष्टिप्रभु (श्रीनाथजी और श्रीनवनीतप्रियजी) का संयोग और विप्रयोग रसका अनुभव करना चाहते थे. अतः ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता है कि श्रीनाथजीका देवालय पुष्टिसिद्धान्त नहीं था इसलिये श्रीगुसांईजी जतिपुरामें घरका निर्माण करके नहीं बिराजे. पुष्टिमार्गमें केवल श्रीनाथजीका ही देवालय है अन्यत्र नहीं. इसी कारण श्रीगुसांईजी श्रीनाथजीके संयोग और विप्रयोग रसका अनुभव करते हुवे आप श्रीगोकुलमें ही घरका निर्माण करके बिराजे. अतः श्रीनाथजीका स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम ही है. अन्यथा श्रीगुसांईजी श्रीनाथजीका ६ मास तक विप्रयोगका अनुभव न करते. कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि श्रीगुसांईजी श्रीजीद्वारसे अधिक द्वारिका एवं जगन्नाथपुरी पधारते थे किन्तु यह बात भी ठीक नहीं है. क्योंकि आगरावाले माणिकचन्दजीकी वार्तामें भी यह वर्णन है कि जब श्रीगुसांईजी अड़ेलमें स्थायी वास करते थे तब भी आपश्री हर वर्ष पांच महिना श्रीनाथजीद्वारमें श्रीजीकी सेवामें ही पधारते थे. अतः श्रीगुसांईजी जब अड़ेल बिराजते थे तब भी हर वर्ष द्वारका या जगन्नाथपुरी से अधिक समय श्रीनाथजीद्वारमें ही बिराजते थे. (द्रष्ट.२५२ वै.वा. आगरावाले ऋषिकेशजी और माणिकचन्दजीकी वार्ता). २५२ वैष्णवोंकी वार्तामें लक्ष्मीदास दोशीकी वार्तामें यह वर्णन हुवा है कि जिसमें श्रीगुसांईजीने जीवोंपर करुणाके भावसे श्रीगोवर्धननाथजीकी अन्नकूट भेंट वैष्णवोंके पाससे अपने श्रीहस्तसे स्वीकारी है. क्योंकि श्रीगोवर्धननाथजी सभी दैवी जीवोंके उद्धारके लिये देवालयमें बिराजे हैं. अतः श्रीनाथजीकी विशेष इच्छाके कारण ही श्रीजीका देवालय पुष्टिमार्गमें मान्य किया गया है.

(निराकरण २०)

श्रीगुसांईजीका उक्त विधान **''दोनों स्वरूपोंको साथ क्यों पधरा नहीं लेते कि गोकुल-जतिपुराके बीच नित्य आवागमनका परिश्रम न हो?''** प्रश्नके समाधानरूपेण दिया गया है नकि जो प्रश्न कुछ लोगों(अर्थात् प्रस्तुत लेखक)ने पूछा उसके समाधानतया. क्योंकि जतिपुरा घर बनाकर बिराजनेपर भी गोकुलके घरसे जतिपुरा पधारनेकी तरह, जतिपुराके घरसे भी. गोकुल प्रतिदिन आवागमन करनेपर उभयत्र आर्तिका भाव निभ तो सकता ही था. अत: अन्य किसी प्रश्नके समाधानार्थ विधानको सोचे-समझे बिना प्रस्तुत प्रश्नका समाधान दिखलाया दिया है. सच्चा समाधान तो नामरत्नाख्य स्तोत्रमें **''श्रीगोकुलकृतावास: कालिन्दीपुलिनप्रिय:, गोवर्धनागमरत:... बाललीलादिसुप्रीतो गोपीसम्बन्धिसत्कथ:''** (नाम.रत्न.-स्तो.१०-१३) नामोंमें प्रभुचरणके पंचमात्मजद्वारा प्रकट किया गया है. यह अतिगम्भीर तात्पर्यवाले प्रभुचरणका गोकुलमें आवासाग्रह और जतिपुरगोवर्धनमें आगमनाग्रह जिनका दीमाग ही ठस्स हो उन्हें अवगत न हो पायें या अन्यथा ही अवगत हों उसमें विस्मयकी कोई बात नहीं है.

क्या कारण था कि श्रीजीके स्वरूपका विप्रयोगानुभव ही करना और श्रीनवनीतप्रियजीकी बालभावानुरूप शीघ्र ही सेवा करनी? छ मास पर्यन्त सहे श्रीजीके विप्रयोगमें वह बालभाववशात् वहां शीघ्र सेवाका आग्रह क्यों छूट गया? यदि ऐसा सोचते हैं कि श्रीजीके विप्रयोगमें श्रीनवनीतप्रियजीका विस्मरण हो गया अथवा प्रभुचरणको श्रीनवनीतप्रियजीकी अपेक्षा श्रीनाथजीके स्वरूपमें अधिक आसक्ति होगी. तो वह आसक्ति विप्रयोगार्थ ही क्यों थी संयोगसुखार्थ क्यों नहीं? इन प्रश्नोंका उत्तर मिले ऐसा अतिगम्भीर क्या तात्पर्य प्रभुचरणका था? वह किसीका दीमाग ठस्स हो तो समझमें न आ पाये यह स्वाभाविक है!

ऐसी स्थितिमें देवालयकी मर्यादामें बिराजमान श्रीजी और इसी

तरहसे द्वारकानाथजी जगन्नाथजी के स्वरूपोंमें स्वरूपगतभेद मानना या लीलागत और तदन्तर्गत आराधनागत? इसकी बारीकी भी बुद्धिमें आरूढ़ न हो पाती हो अपार्थकयुक्तिदाताको क्षम्य ही समझना चाहिये.

महाप्रभु और प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीविट्ठलनाथजी ने तथाकथित पुष्टि-मर्यादा उभयमार्गीय जीवोंके आराध्य पुष्टिपुरुषोत्तम प्रभुको छोड़कर क्यों नौ बार केवल मर्यादामार्गीय द्वारका और पुरुषोत्तम क्षेत्रोंकी क्यों इतनी यात्रा की? कल तो कोई ऐसी भी युक्ति दे सकता है कि व्रजभूमिसे बाहर बस जानेके बाद प्राय: अनेक वल्लभवंशज महिना-डेढ़ महिनाके लिये ही व्रजयात्रा करते थे सो व्रजकी तुलनामें अन्यान्य निवासस्थलोंके प्रति अधिक भक्तिभाव रखनेवाले थे! अत: मूल प्रश्न तो अनुत्तरित ही रखा गया है! वैसे जगन्नाथजीके स्वरूपके देवालयक्षेत्रको तो 'पुरुषोत्तमक्षेत्र' ही कहा जाता है. अत: श्रीरंगजी द्वारकानाथजी जगन्नाथजी और बदरीनाथजी के साथ व्यावसायिक प्रतिस्पर्धावश श्रीगोवर्धननाथजीका देवालय न चलाना हो तो पिता-पुत्रोंकी आचार्यत्रयीके कण्ठोक्त उपदेश और कायिक आचरण के आधारपर सभीकी समान पुरुषोत्तमता ही स्वीकारनी पड़ेगी. प्रभेद तो आराधनाकी रीतिका है. स्वरूपोंके बीच प्रभेद करनेपर तो ''भल्लाजीकी तरह आचार्योंने भी जिन गोवर्धननाथजीकी सेवामें सदा निरत रहे उन्हें छोड़कर मर्यादापुरुषोत्तमके भजनका अपराध किया'' ऐसा अर्थ निकलेगा. उस आपराधिक आचरणकी **''तेजीयसां न दोषाय''** न्यायसे व्याख्या कर देनेपर भी यह समस्या तो उठेगी ही कि वैष्णवोंको तो वहां कमसे कम बुलाना नहीं चाहिये था. अत: ऐसे चरित्रको पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तमें प्रमाण न माननेकी कल्पना की जाय तो श्रीगोवर्धननाथजीमें उनकी स्वरूपासक्तिके चरित्रको भी पुष्टिसिद्धान्तमें प्रमाण माननेका आधार क्या? देवालयतया परार्थप्रतिष्ठा होनेसे परिवारेतरजनोंका अर्थात् परधनद्वारा सेवा-पूजा हो सकती है वह तो तन्त्रोक्त सिद्धान्तकी मर्यादाका ही अनुसरण था. देवके स्वयं विग्रहार्थ, अर्थात् देवपूजार्थ नहीं, जो द्रव्य नगद या सामग्री आदिके

रूपमें प्राप्त हो उसका स्वार्थ उपयोग सर्वथा वर्जित है. उसमें श्रीनाथजीको अपवाद नहीं माना जा सकता, देवद्रव्यापहारदोषके प्रसंगवश, यह कथा तो भिन्न है. इससे भी नीचेके स्तरपर गिरकर जब देवाराधना खुद ही द्रव्यार्जनार्थ की जाती हो और उससे अपने परिवारका लालन-पालन भी किया जाता हो तब न तो पुष्टिमार्गीय और न उसके अंगतया या अनुकल्पतया अनुमत मर्यादामार्गीय प्रणालीवाली ही आराधना बच पायी. तब ऐसी जघन्य आराधनाकी रीतिसे लीलाभेद और उस लीलाभेदके उपाधिके कारण औपाधिक स्वरूपभेद न होता हो तब तो ऍन्टिक् शॉप्में विक्रयार्थ सजाये गये बहुत सारे पुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूपोंको भी पुष्टिपुरुषोत्तम मानना पड़ेगा. और तब चोरबजारमें विधर्मिओंकी दुकानोंमें भी उन्हें भोग धरकर प्रसाद लेनेकी छूट देनी पड़ेगी!

इन मुद्दोंके विपरीत अपार्थकयुक्ति दाता के पूर्वपुरुष कामवनवाले श्रीवल्लभजी स्पष्ट शब्दोंमें ऐसा भी विधान करते हैं कि "**और श्रीनाथजीके दर्शनको अवश्य जानो चाहिये क्यों जो श्रीजीको श्रीमहाप्रभुजीने सगरे पुष्टिमार्गीय (न कि अपुष्टिमार्गीय) जीवके उद्धारके लिये पधरायो हें. श्रीनाथजीमें काहूंकी सत्ता नाहीं है. ए तो सबके ठाकुर हें. देवदरबार श्रीगुसांइजीने माने हें. श्रीगुसांईजी सातों बालकनकूं सातस्वरूप पधराय दिये हें और अपने मांथे श्रीनवनीतप्रियजी राखे हें. क्यों जो श्रीनाथजीकी सेवा तो श्रीमहाप्रभुजी आप करत हें, तासों काहूको बांटा श्रीनाथजीमें नहीं हें**" (वचना.२०) यहां इस बातका भी संकेत प्राप्त हो सकता है कि श्रीजी सर्वदैवीजीवोद्धारक हैं, या सकल पुष्टिजीवोद्धारक हैं, या अविभक्त संयुक्त गोस्वामिपरिवारकी निधि हैं, या गो.ति.श्रीविट्ठलरायजीका हाथ पकड़ लेनेके कारण गो.तिलकायितकी निजी देवालयकी निधि हैं, या निजी गृहनिधि हैं, इन विकल्पोंमेंसे कोई स्पष्ट कल्प निर्धारित किया बिना यद्वा तद्वा विधान करना दीमागी ठस्सपन नहीं तो और क्या है? हर सूरतमें जो भी स्वरूपरीतिके बारेमें प्राचीनकालसे चली आ रही अस्पष्टता हो इतना तो स्पष्ट ही है कि बावजूद

पुष्टिमार्गीय सेवाके अन्तरंगतर स्वरूप नन्दालयमें बिराज कर सेवनीय गृहनिधि तो नहीं है. ऐसी स्थितिमें उन्हें परिवारपोषणार्थ आजीविकापार्जनकी निधिके रूपमें उपयोग लेना महाप्रभुको अभिप्रेत स्वरूपका तो तिरोधायक ही मानना पड़ता है. एक और तथ्य यहां अवधेय है कि यदि प्रभुचरणने देवालयभूमि मान कर जतिपुरामें घर बना कर रहना उचित न समझा और गृहनिधि श्रीनवनीतप्रियाजीकी बालभावसे सायंकालमें शीघृ ही सेवामें पहोंचनेको गोकुलमें अपना आवास रखना उचित माना यह सदाचार सिद्ध सिद्धान्त हो तो परवर्ती कालमें उनके वंशजोद्वारा जतिपुरामें घर बना कर आवास करना निश्चय सिद्धान्तविरुद्ध आचरण मानना चाहिये. ऐसी स्थितिमें सिंहाड़ गाममें गो. तिलकायितका निवास भी अपसिद्धान्त मानना पडेगा! बेचारे साडूभाइको और फंसा दिया, वकालत करनेके मोहवश!

(अपार्थकयुक्ति २१)

आजकल कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि श्रीमहाप्रभुजीने अच्युतदासजीको श्रीनाथजीकी सेवा करनेकी आज्ञा दी फिरभी अच्युतदासजीने श्रीजीकी सेवा नहीं की इसलिये श्रीनाथजीका स्वरूप पुष्टिप्रभु नहीं है. ऐसा कुछ लोगोंका कहना है परन्तु यह बात ठीक नहीं है. अच्युतदासजी जब श्रीमहाप्रभुजीके सेवक बने उसके बाद श्रीमहाप्रभुजीने उन्हें श्रीनाथजीकी साधनरूप तनु-वित्तजा सेवा करनेकी आज्ञा दी किन्तु अच्युतदासजीने श्रीनाथजीकी फलरूप मानसी सेवा ही श्रीमहाप्रभुजीसे मांग ली. तब श्रीमहाप्रभुजीने उन्हें चरणामृत दिया एवं सिद्धांतमुक्तावली ग्रन्थ भी पढ़ाया जिससे अच्युतदासजीको मार्गका सिद्धांत हृदयारूढ हो गया एवं उनके नेत्र अलौकिक हो गये और वे श्रीनाथजीकी मानसीसेवामें सदा मग्न रहते. अच्युतदासजी गोविन्दकुंडके पास एक गुफामें रहते थे और वहां ही बैठे-बैठे वे जतिपुराके मंदिरमें बिराजमान श्रीनाथजीकी सभी लीलाओंका अनुभव करते एवं यह सभी अनुभव की बाते वे श्रीगुसांईजीको भी कहते. श्रीगुसांईजी अच्युतदासजीके पास श्रीजीको राजभोग धरके

नित्य पधारते थे क्योंकी श्रीनाथजीने कौनसी सामग्री या सेवा प्रसन्नतासे अंगीकार की इस विषयक सभी बाते अच्युतदासजी मानसीमें ही अनुभव करके श्रीगुसांईजीको बताते थे. अतः श्रीमहाप्रभुजीसे सिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थ पढ़नेके बाद अच्युतदासजी मानसी सेवामें गोवर्धनपर्वतपर बिराजमान श्रीनाथजीका ही अनुभव करते थे. अतः अच्युतदासजीने श्रीनाथजीकी सेवा अस्वीकार नहीं की थी किन्तु केवल साधनावस्था की तनुवित्तजा सेवा न करके वे श्रीजीकी फलरूप मानसी सेवामें ही सदा मग्न रहते थे.

(निराकरण २१)

हद्द हो गई दीमागी ठस्सपनकी! यदि मानसी सेवा ही फलावस्था हो अथवा चित्तके व्यसनावस्थामें भगवत्प्रवण होनेपर भी तनु-वित्तजा साधनावस्थाकी ही सेवा रहती हो तो, प्रभुचरणने भी गोकुलमें रह कर श्रीजीकी मानसी क्यों नहीं कर ली? आर्ति भी निवारित हो जाती! यदि अच्युतदासजीकी गोविन्दकुंडपे हो जाती हो तो श्रीयमुनाजीके ठकुरानीघाटपे प्रभुचरणकी क्यों नहीं हो पाती? जो कारण वहां शक्य होने पर भी निरन्तर गोवर्धनागमनमें प्रस्तुत किया जायेगा वही अच्युतदासजीपे क्यों नहीं लागू होगा? वैसे अणुभाष्यमें तो प्रभुचरण खुलासा तो देते ही हैं **"यत्र भक्तेषु एकाग्रता भगवत्स्वरूपे प्रकटएव एकस्मिन् ग्राहकचित्तधारा नतु अन्तर्बहिर्विज्ञानं तत्र उभयोः अन्तःपश्यतो बहिपश्यतश्च भावे भगवत्स्वरूपे च विशेषाभावाद् न तारतम्यम्"** (अणुभा.४।१।११) ऐसी स्थितिमें जब तारतम्य न हो तब श्रीजीकी आज्ञा **"मेरी सेवाको प्रकार जगतमें प्रकट करो"** उसके अनुरोधवश गुरु-आज्ञा महाप्रभुजीकी तथा श्रीजीकी भी सेवा करनेकी आज्ञाकी अवहेलना करनेपर भल्लाजीकी तरह अच्युतदासजीको भी अहंकारी क्यों नहीं माना गया? मतलब साफ है स्वयम्भु प्रकट पुष्टिपुरुषोत्तमकी सेवाके बारेमें कर्तव्यभाव आचार्याज्ञाके बावजूद शिथिल तो था ही फिर क्यों भल्लाजी ही केवल अहंकारी माने गये और अच्युतदासजी क्यों नहीं? क्यों आचार्यचरणको भी

स्वयंके तत्त्वदीपनिबन्धमें प्रतिपादित सिद्धान्त **"'कृष्ण'पदेन च बहिर्भजनमेव मुख्यम्"** (त.दी.नि.१।१३) याद नहीं आया? क्यों केवल **"मानसी सा परा मता"** (सि.मु.१) विधानके अनुसार यदि साधनावस्थामें बहिर्भजन और फलावस्थामें आन्तरभजन का व्यवस्थित विकल्प विचारें तो भी श्रीजीके बहिर्भजनके बजाय आन्तरभजनको प्रमुख मानना पड़ेगा. वैसे सिद्धान्ततः मानसी सेवाके कर्मीभूत सेव्यस्वरूपकी सेवामें श्रीकृष्णके लीलाभावकी प्रधानता होती है वह सेवाकर्ताके कर्तृभावको गौण बना कर चलती है. और बहिःसेवामें सेवाकर्ताके कर्तृभावकी प्रमुखताके कारण तनुवित्तजाका आग्रह परिलक्षित होता है.

निष्कर्षतः मानसी सेवामें सेवाकारयिताकी लीलाकी प्रमुखता और सेवाकर्ताकी गौणता फलनिरोधरुपा प्रकट होती है. जबकि तनुवित्तजा सेवामें सर्वानुग्रहकारी कारयितारूप भगवानकी गौणता तथा अनुगृहीत सेवाकर्ताकी प्रमुखता साधननिरोधरुपा प्रकट होती है. फलतः लीलाभेदसे स्वरूपभेदकी तरह पुष्टिसाधना मर्यादासाधना और प्रवाहसाधना भी भगवल्लीलाकी अंगभूत लीलायें हैं. अतः साधनाभेदसे स्वरूपभेद आता है नकि स्वरूपतः परब्रह्म परमात्मा भगवानमें कोई भेद स्वयम्भुस्वरूप या कृत्रिमस्वरूप के आधारपर स्वीकारा जा सकता है. बेटद्वारकास्थित स्वरूप रणछोड़रायजीके स्वरूपमें भी श्रीगोवर्धननाथजीकी तरह महाप्रभुजीका स्वत्व स्वीकारा ही गया है. द्वारकादास परीख द्वारा प्रक्षिप्त पाठोंको निरस्त करनेवाली निजवार्ताकी प्रतिमें भी **"पृथ्वीमें और हू बड़े-बड़े भगवद्धाम हैं : श्रीजगन्नाथरायजी श्रीरंगनाथजी श्रीलक्ष्मणरायजी श्रीबद्रीनाथजी परि तामें श्रीद्वारकाजी श्रीआचार्यजी महाप्रभुजी अपनी सत्ता राखी तबते श्रीआचार्यजीके ही सेवक श्रीरणछोड़जीकी सेवा करे हैं और श्रीआचार्यमहाप्रभूनकी सत्ता जानिके श्रीगुसांईजी छे बार बेट द्वारका पधारे"** (नि.वा.४२, द्रष्ट.२५२ वै.वा.१।३) **"महाराज! मैं(नागजीभाई) आपकी आज्ञाते श्रीरणछोड़जीके दरसनको गयो सो मोकों सब सुखकी प्राप्ति भई... तब श्रीगुसांईजी प्रसन्न होईके यह वचन श्रीमुखते कहे**

जो ये श्रीरणछोड़जी महाप्रभुनकी माने है तातें या ठौर मेरो सम्बन्ध है'' और अनेकानेक प्रक्षिप्तांशोवाली प्रति जिसका आधार अपार्थकयुक्तिदाताने लिया है तो वह श्रीजीके स्वरूपके प्राकट्यकी तरह श्रीरणछोड़रायजीका प्राकट्यकी भी वार्ता उपलब्ध होती, बावजूद उसके अर्थात्, दीक्षा-सेवाशृंगारोत्सव-सेवकादि सभीके पुष्टिमार्गीय होनेपर भी उन्हें मर्यादापुरुषोत्तममें खपाया जा रहा है. जबकि ऐसा ही प्रकार माधवपुरके माधवरायजीमें रहा है तो वहां क्यो सर्वोद्धारकता मान्य नहीं की जाती? यदि करते हैं तो अन्तर केवल एक बच जाता है कि उनके माध्यमसे हम गोस्वामिबालकोंका भक्तिव्यापार नहीं चल रहा है. जबकि महाप्रभुजीके नित्यलीला प्रवेशकाल तक इन सभी रूपोंको समभावसे देखा जाता था.

वैसे पैतृकस्वरूप श्रीमदनमोहनजी, ससुरालसे पधारे श्रीगोकुलनाथजी तथा किसी मर्यादामार्गीय ब्राह्मणसे महाप्रभुजीको प्राप्त हुए श्रीविट्ठलनाथजी तत्तद निजगृहोंमें ही, अर्थात मन्दिरमें अप्रतिष्ठापित मर्यादामार्गीय स्वरूप थे. श्रीजीका स्वरूप, परन्तु, श्रीप्रभुचरणको मन्दिरसहित प्राप्त हुवा होनेके कारण तथा पित्तृप्रतिष्ठापित मन्दिरस्थ श्रीगोर्वधननाथजीको प्रभुचरणने अपने स्वत्ववाली आपवादिक समन्दिर साधनाके भेदवश पृथक् रखा. सो गृहप्रतिष्ठापित स्वरूपोंको गृहविभाजनके समय विभक्त करनेपर भी श्रीजीको अपने अविभक्त परिवारके स्वत्ववाला रखा. इसी के कारण तो गो.तिलकायितको भी तीसरे घरके व्रजरायजीको सेवा देनी पड़ी थी. वर्षके ३६० दिनोंमें केवल ६० ही दिनकी सेवा ही तिलकायतकी थी. और श्रीजीके स्वरूपके बारेमें उनका स्वत्व अविभक्त परिवारके प्रमुख होनेके रूपमें संरक्षक होनेका ही था. इसे शनैःशनैः अपने एकाधिकारकी वृत्तिसे हथिया लेनेको टिकेत विट्ठलेशरायजीसे लेकर टिकेत गिरिधरलालजीके प्रयास चलते रहे जिसे उचित ठहरानेको वार्ताओंमें अनेकानेक प्रक्षेप और नई-नई श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्ता जैसी कल्पित हास्यास्पद वार्तायें छद्मनामसे लिखवाई गई. और महाप्रभुजीके ही द्वारा

ही प्रतिष्ठापित अन्यान्य भगवत्स्वरूपोंकी जहां महाप्रभुजीकी रीतिसे ही सेवाप्रकार था फिरभी मर्यादामार्गीय ठहरा दिया गया. श्रीजीके भी मर्यादामार्गीयोंसे सेवनीय होनेपर शुद्धपुष्टिपुरुषोत्तम होनेकी अनुपदिष्ट धारणाओंको सिद्धान्ततया खपाया जा रहा है. जबकि निजवार्ताके भावप्रकाशमें यह भी स्वीकारा गया है **''वहां कोउ सन्देह करे जो श्रीविट्ठलनाथजी आज्ञा दीनी तो श्रीगोर्वधननाथजी आज्ञा क्यो न दीनी? ताको कारण यह जो भगवत्स्वरूपको श्रीआचार्यजी स्पर्श करे तो साक्षात् पुरुषोत्तम होई जाई तातें''** (प्रक्षिप्तांशसहित नि.वा.५९).

अब यदि कहा जाये कि मर्यादालीलावाली रुक्मिणीजीसे सेवित और वारकरी महाराष्ट्रिअन वैष्णवोंसे सेव्य होनेके कारण साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तमता सार्वदिकी नहीं प्रत्युत तात्कालिकी ही हुई होगी. तो अपुष्टिमार्गीय महाप्रभुके पूर्वजोंके सेव्य श्रीमदनमोहनजी, ससुरगृहमें सेव्य श्रीगोकुलनाथजी, राजा अम्बरीषके सेव्य होनेसे श्रीद्वारकाधीश और किसी ब्राह्मणके सेव्य होनेसे श्रीविट्ठलनाथजीमें भी तात्कालिक पूर्णपुरुषोत्तमता और बादमें पुनः मौलिक मर्यादामार्गीयता क्यो नहीं आ जायेगी? इसी तरह श्रीनाथजीके बारेमें भी पौष्करसंहिताके **''यत्र तत्र भूभागे यो-यो सर्वेश्वरो वपुः... गिरौ गोवर्धनाख्ये तु देवः सर्वेश्वरो हरिः पूजिते स्थाने गवां निष्क्रमणेषु च''** (द्रष्ट.श्रीपौ.संहि.३६।२९५-३३६) वचनके आधारपर तात्कालिक महाप्रभुके प्राकट्यसे बहोत पूर्व ही पांचरात्रप्रतिष्ठाविधिसे प्रकट बिराजते होनेके कारण पूर्णपुरुषोत्तमता बादमें और पूर्वसिद्ध मौलिक मर्यादामार्गीय पुरुषोत्तमता क्यों नहीं माननी? क्यों इतरस्वरूपोंमें ये साधनाकृत भेद खड़ा किया जाता है? स्वरूपकृत अभेद वहां क्यो नहीं माना? जैसे श्रीजीमें दिखलाया जा रहा है. यहां दुर्भावयुक्त हेतु केवल एक ही है कि साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तमका बहाना बनाकर सिद्धान्तके बन्धनोंमें बन्धे बिना व्यावसायिक स्वच्छन्दता बरतनी है. ऐसी दिव्यनिधिके साथ अपने अकुलोचित व्यवसायको जारी रखनेके लिये! यदि गोवर्धनशिलासे निर्मित होनेका बहाना बनाया जाये तो भी स्वयं प्राकट्यवार्ताके आधारपर

अन्य तीन स्वरूपोंका भी वही माहात्म्य मानना पड़ेगा. वहां पुनः अन्य सम्प्रदायोंद्वारा सेव्य होनेसे अस्वमार्गीयताके कारण गौणता लाना चाहेंगे तो अस्वमार्गीय प्रणालीसे सेवाप्रकार चलानेपर भी श्रीजीमें गौणता आयेगी. यदि हम वल्लभवंशजोंके द्वारा ही चलाया जाता होनेका बहाना बनायें तो वह अव्यावसायिक भक्तिभाववाला होता तो भक्तिभावात्मिका विशेषता मान्य हो सकती थी. परन्तु व्यावसायिक अर्थोपार्जनके भावके कारण तो वह हेतु भी टिक नहीं पायेगा. लालूभट्टजीके पारिवारिक घरमें शिक्षापत्रकार हरिरायजीके पिता श्रीकल्याणरायजीके दीक्षादाता गुरु होनेके कारण हस्ताक्षर सेवामें बिराजते हैं. उसमें सुस्पष्ट शब्दोंमें यह कहा गया है :

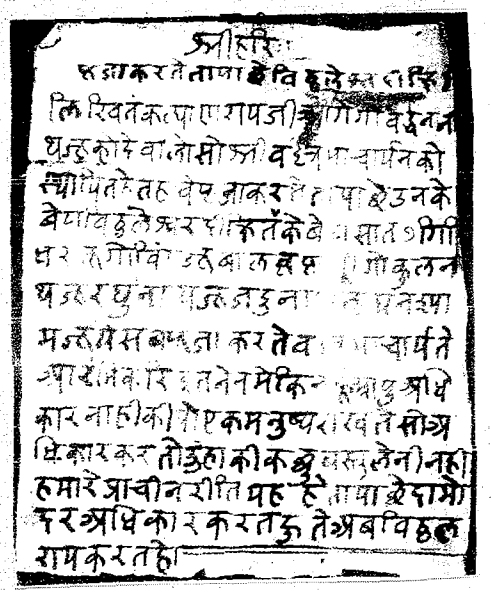

"लिखितं कल्याणरायजी : आगे श्रीगोवर्धनाथजुको देवलो सो श्रीवल्लभाचार्यको स्थापित. तहां वे पूजा (तुलनीय "जगन्नाथे विट्ठले श्रंरंगे... यत्र पूजाप्रवाहः..." त.दी.नि.२।२५८) करते. ता पाछे उनके बेटा श्रीविट्ठलेश्वर

दीक्षित पूजा करते. ता पाछे विट्ठलेशके बेटा गिरधरजु गोविन्दजु बालकृष्णजी गोकुलनाथजु यदुनाथजु घनश्यामजु वे सब पूजा करते. वल्लभाचार्यतें आरंभि करि इनमेतें किनने हु अधिकार कियो नाहि. एक मनुष्य राखते सो अधिकार करतो. ऊंहांकी कछु वस्तु लेनी नहीं हमारी प्राचीन रीति यह है. ता पाछे दामोदर अधिकार करत हुते अब विट्ठलराय करत हैं".

इन्हीं विट्ठलरायजी और इनके चचेरे भाई मथुरानाथजी के बीच मोगलदरबारमें मुकदमाबाजी हो गयी थी. विवादका मुद्दा यह था जिन दिनोंमें श्रीजीके दर्शनार्थ आनेवालोंकी भीड़ जादा होती है उन दिनोंमें मथुरानाथजीको मन्दिरमें आने नहीं देते थे. श्रीजीको आये सारे भेंट-चढ़वा विट्ठलरायजी अकेले हड़प कर जाते थे. इस मुकदमेंके फैसलेमें यह कहा गया कि विट्ठलरायजीका जवाब था कि वे टीकेत हैं सो उनका अधिकार उचित ही है. यहां मोगल कानूनको महाप्रभुके "**मेरो ह्वैके जो देवद्रव्य खायगो सो पतित हो जायेगो मेरो नाहिं कहावेगो**" कानूनपर हावी होता देखा जा सकता है.

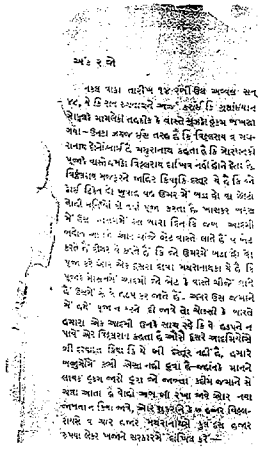

(अपार्थकयुक्ति २२)

श्रीगुसांईजीने जब नागजीभट्टको श्रीनाथजीकी सेवा करनेकी आज्ञा दी तब नागजीभट्टने श्रीनाथजीकी सेवा करनेके बाद एक पत्र श्रीगुसांईजीको लिखा. इस पत्रमें नागजीभट्टने श्रीनाथजीको कनक(सुवर्ण)कमलकी उपमा दी और श्रीगुसांईजीको जलकमलकी उपमा देकर उन्होंने यह बताया की कनक(सुवर्ण)कमलमें उलझनेके कारण जलकमलका आस्वाद नहीं आ रहा है. नागजीभट्टने श्रीनाथजीकी सेवा की प्रधानता न मानकर श्रीगुसांईजीकी सेवाकी प्रधानता मानी. अतः इस प्रसंगके आधारपर कुछ लोग ऐसा कहते है कि श्रीनाथजी पुष्टिप्रभु नहीं हैं और इस कारण नागजीभट्टने श्रीनाथजीकी सेवाकी प्रधानता नहीं दी, ऐसा कुछ लोगोंका कहना है. परन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि भावप्रकाशमें श्रीहरिराय महाप्रभुजी इस प्रसंगका यह अर्थ समझाते है की यद्यपि श्रीनाथजीका स्वरूप सकल लीलासंयुक्त रसात्मक है फिरभी श्रीगुसांईजीकी कृपा बिना श्रीजीके रसात्मक स्वरूपका अनुभव जीवको नहीं हो सकता है. इसलिये नागजीभट्टने श्रीगुसांईजीकी सेवाकी प्रधानता दी. केवल इसी सन्दर्भमें नागजीभट्टने श्रीनाथजीको कनक(सुवर्ण)कमल कहा हैं और श्रीगुसांईजीको जलकमल कहा है. नागजीभट्टके पत्रका उत्तर स्वयं श्रीगुसांईजीने दो श्लोकोंमें दिया. भावप्रकाशमें श्रीहरिराय महाप्रभुजी श्रीगुसांईजीके इन दो श्लोकोंका अर्थ समझाते हुवे आज्ञा करते हैं कि सभीका मूल तो कनक(सुवर्ण)कमलरूप श्रीनाथजी ही हैं परन्तु श्रीजीके रसात्मक स्वरूपका केवल भाववाले जीव ही आस्वाद कर सकते है. इसलिये सर्वभावसे श्रीनाथजीकी सेवा करनी चाहिये जिससे भक्त श्रीजीके रसात्मक स्वरूपका अनुभव कर सके.

(निराकरण २२)

यदि यही बात सच हो तो गुसांईजी तो नागजीभाईपर स्वतः ही इतनी कृपा थी कि सर्वमूल कनककमलमें भी सर्वविध पुष्टिसौरभका

अनुभव प्रदान कर सकते थे. जैसे नागजीभाईको श्रीरणछोड़जीमें तो प्रकट अनुभव करवाया ही था, वो न करवाकर अपने पास क्यों बुलाया? क्यों अपने पास बुलाया? **"यदि अलिरपि निरुपधिभावः स्वभावतः समागच्छेत् निरवधितोषो अस्य अत्रापि भवेदेव इति किं वाच्यम्?"** (२५२ वै.वा.१।४) ऐसा उत्तर देनेकी आवश्यकता क्या थी? यदि नागजीभाई श्रीगुसांईजीके अत्यधिक कृपापात्र थे ऐसी कृपाके द्वारा श्रीरणछोड़जीकी तरह सर्वमूल कनककमलका भी सौरभ प्रदान क्यों नहीं किया? क्या प्रभुचरण स्वयंके आराध्य श्रीजी और स्वयंमें एकतर विकल्पको पकड़नेकी अनुमति दे रहे हैं? तो श्रीजीका स्वरूपगत असाधारण वैशिष्ट्य खण्डित हो जायेगा. अन्यथा पुनः भावभेदसे सेव्यभेदका सिद्धान्त गलेपतित होगा. उसमें भी यहां तो सिद्धान्ततः निरुपधिभावकी ही प्रधानता दिखलायी गयी है. तो जब सोपाधिक भाव ही आजीविकाके अर्जनार्थ, किसी भगवत्स्वरूपका माहात्म्य बढ़ाया जाता हो तो, वह भाव और उससे भावित स्वरूप और ऐसे स्वरूपकी सेवाका सिद्धान्त स्वरूपैक्यके बलपर सिद्ध नहीं हो पायेगा. वैसे तो कनककमलके भी दो तात्पर्य परम्परया मान्य हैं, नकि एक ही तात्पर्य जैसा कि भावप्रकाशमें लिखा गया है (द्रष्ट.काकावल्ल.वच.१३). अपार्थक्युक्तिदाता कहते हैं **"यद्यपि श्रीनाथजीका स्वरूप सकललीला संयुक्त रसात्मक है फिरभी श्रीगुसांईजीकी कृपा बिना श्रीजीके रसात्मक स्वरूपका अनुभव जीवको नहीं हो सकता"** तो यह पृष्टव्य हो जाता है कि कौनसे (शृंगार वात्सल्य सख्य दास्य या भक्ति)रसोंमें से किसके कारण रसात्मकता विवक्षित थी. यदि 'सकललीलासंयुक्तरसात्मक'पदके प्रयोगके कारण सर्वरसात्मकता लेते हैं रौद्र बीभत्स भयानक रसात्मकताके वश बटुकभैरवरूप स्वीकारना भी आपत्तिजनक नहीं रह जायेगा. और वृत्तिसंकोचद्वारा पुष्टिमार्गीय सेवामें अनुमत शृंगारादि रसात्मकता अर्थ लेते हैं तो एक अन्य बात नड़ने लगेगी कि अपार्थकयुक्तिमें जतिपुरासे मेवाड़ पधारते समय औरंगज़ेबकी तरह अनेक अपुष्टिमार्गीयोंको सानुभाव प्रदान हुआ वहां भी गुसांईजीकी कृपा माननी पड़ेगी.

(अपार्थकयुक्ति २३)

कृष्णदास अधिकारीकी देह छूटनेके बाद जब श्रीनाथजीकी सेवामें दूसरे अधिकारीको रखना था तब श्रीगुसांईजी ने यह आज्ञा दी के श्रीगोवर्धनधरको अधिकार हम कौन को देय? कौन को बिगार करे? तब श्रीजीने कही हम हुं कौन जीवको बिगार करे? जो कोई अधिकार लेगो ताको बिगार होयगो. आजकल कुछलोग इस वार्ताप्रसंगका ऐसा अर्थ करते है कि श्रीजीकी देवालयमें जगदुद्धारके लिये बिराजनेकी आज्ञा जगदुद्धारके कल्पवृक्षकी जड़नमें स्वयं अपने भक्त सेवा-अधिकारियोंके बिगाड़की खाद ड़ालनेको दी थी!!! अर्थात् जगदुद्धारको निमित्त बनाकर भक्त अधिकारियोंका बिगाड़ करनेकी ही श्रीनाथजीकी इच्छा थी ऐसा कुछ श्रीनाथजीविरोधी लोग इस वार्ताप्रसंगका अर्थ करते हैं. वे लोग श्रीनाथजीकी जगदुद्धारकी इच्छाका ही विरोध करते हैं. इसलिये वह श्रीनाथजीका ही विरोध कहा जाता है. परन्तु यह सब श्रीनाथजीविरोधी लोगोंकी बाते बिलकुल गलत और काल्पनिक हैं. क्योंकि श्रीहरिराय महाप्रभुजी इस वार्ताप्रसंगके भावप्रकाशमें श्रीगुसांईजीकी यह आज्ञाको ही समझाते हुवे आज्ञा करते हैं कि यह पुष्टिमार्ग है सो याके अधिकारी निरपेक्ष होय, ताहीके मांथे यह मार्ग होय. और जाकों अधिकार पाये अहंकार बढ़े, सो ताको कछु फल सिद्ध न होय. इस वार्ताप्रसंगसे यह ज्ञात होता है कि यदि प्रभुकी सेवा अहंकारवश होकर करें तो वो सेवा निष्फल हो जाती है और जीवका बिगाड़ एवं पतन ही होता है. इसलिये प्रभुकी सेवा अहंकार रहित होकर भक्तिभावसे करनी चाहिये, चाहे देवालयमें हो या घर में हो. सदुपांडेकी वार्तामें स्वयं श्रीनाथजी श्रीमहाप्रभुजीको आज्ञा करते है कि मेरी सेवा जगतमें प्रकट करो तो दैवी जीव बेगि शरण आवे. श्रीनाथजीने श्रीमहाप्रभुजीको जगदुद्धारकी आज्ञा दैवीजीवों (पुष्टि एवं मर्यादा जीव)को शरणमें लेनेके लिये की है, भक्तोंका बिगाड़ करनेके लिये नहीं की है. क्योंकि अनेक भक्तोंको श्रीनाथजीने पुष्टिफलका दान किया हैं. पुष्टिमार्गमें कोइ जीव गृहसेवामें भी यदि भक्तिभाव रहित होकर और अहंकारसे

सेवा करेगा तो उसका भी बिगाड़ और पतन ही होता है. इस बात का स्पष्टीकरण श्रीमहाप्रभुजीने सिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थमें (श्लो.२०) किया है कि जैसे गंगातीरपर रहता हुआ पुरुष, भक्तिके अभावमें अपने दुष्टकर्मोंसे गंगाके तीर पर रहते हुवे भी पाखंडीपनेको प्राप्त होकर और तीर्थरूप स्थानसे नष्ट हो जाता है. वैसे ही भक्त भी भक्तिके अभावमें अपने दुष्टकर्मोंसे उस स्थानसे भ्रष्ट होकर नीचयोनीमें जन्म लेता है. किन्तु पुष्टिमार्गमें प्रभु कृपालु हैं उस जीवको शिक्षा देकर फिरसे आप उसका अंगीकार तो करते ही हैं. जैसे कृष्णदास अधिकारीको भी शिक्षा देकर आपने फिरसे अंगीकार किया और उन्हें लीलाकी प्राप्ति हुई.

(निराकरण २३)

कृष्णदासजीके तो ललिताजी होनेके कारण उन्होंने लौकिक अहंकार किया ही नहीं था. उनकी वार्ता और भावप्रकाशके अनुसार वह तो केवल लीला थी. द्रष्टव्य : "ता समय रामदासजी उहां ठाड़े हते सो कहे 'तामसानाम् अधोगतिः' तब यह सुनके श्रीगुसांईजी आपु कहे जो रामदासजी ऐसे न कहिये जो कृष्णदास तो श्रीआचार्य महाप्रभुनके कृपापात्र वैष्णव हतें जो यह लीला है. कूपमें गिरे तो कहा भयो? अतः अहंकार भी लीलात्मक ही था और श्रीगुसांईजी आपु श्रीमुखसो कहें 'जो कृष्णदास श्रीगोवर्धननाथजीको अधिकार भलो ही किये और अब ऐसे सेवक कहां मिले? और अधिकारी बिना काम चलेगो नहीं सो विचार करनो. सो या भांति कहे तब रामदासजीने बिनती कीनी 'जो महाराज! तुम आज्ञा करोगे सोई करेगो जो श्रीगोवर्धननाथजीकी सेवा भाग्यसों मिलत हे'. सो श्रीगुसांईजी आप कहे जो हम कौनसे जीवसों कहे, जो कौनसे जीवको बिगार करें! सुधारनो तो बहोत कठिन है और बिगारनो तो तत्काल है...श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धननाथजीसों पूछे 'जो महाराज! कृष्णदासकी देह छूटी और अधिकारी बिना काम चलेगो नहीं, हम कौनको अधिकार देके बिगार करें? तासों आप

कहो. ताको अधिकारी करे.' तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे 'हम हूं कौन जीवको बिगार करें? जो अधिकार लेयगो ताको बिगार होयगो. तासों एक काम करो. जो अधिकारको दुसाला ले... कहो जाको अधिकार करनो होय (अर्थात् जाको अपनो बिगार करवानो होय) सो दुसाला ओढ़ो. जो आपु आयके कहे ताको... सो गिरनो होयगो. आप ही आवेगो" (वै.वा.२५२।९).

इस स्पष्ट उल्लेखके कारण न तो इस वार्तामें कृष्णदासके अहंकारकी कथा है और न घरमें सेवा करनेवालेकी सेवामें अहंकारकी नियत भवितव्यता है. यहां तो स्पष्ट शब्दोंमें श्रीजीके सेवाधिकारीके बिगारकी ही भविष्यवाणी है. उसे महाप्रभुजी, जिन्होनें "...**भक्तानां तु विशेषत: सर्वेन्द्रियै: तथा च अन्त:करणै: (मनोबुद्धि - अहंकार चित्तरूपै:)... ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते**" (त.दी.नि.१।५१) आश्वासन दे ही रखा है. उसे जबरदस्ती इस प्रसंगमें खींचके लाना, महाप्रभुके उपदिष्ट सिद्धान्तोंके प्रति देवलकोचित निरूढ़ द्वेषको उजागर करता है, जिनके नामपर आज हम अपने पुष्टिमार्गोपदेष्टा होनेका अहंकार कर रहे हैं. देवद्रव्यभक्षणका येही तो फल बड़ोंने माना हे! ऐसी स्थितिमें "**पुष्टिमार्गमें कोई जीव गृहसेवामें भी भक्ति... से रहित हो कर अहंकारसे सेवा करेगा तो उसका भी बिगार और पतन ही होता हे!!**" शाबास! महाप्रभूपदिष्ट गृहसेवाद्वेषी!!! सिद्धान्तरहस्य पढ़ानेपर भी सिद्धान्तरहस्योपदेशमें श्रद्धाहीन! सिद्धान्तमुक्तावली पढ़ानेका नाटक करनेवालेकी सिद्धान्तमुक्तावलीके मुक्तोपम वचनोंका खंडनवादी!!!

सब हृदयके कुटिलभाव उजागर हो गये! सिद्धान्तरहस्यमें स्पष्ट कहा गया हैं के अपने अहंता-ममतास्पद संसारका भगवान्को निवेदन-समर्पण-विनियोग करनेसे... दोषोंके अन्तर्गत सहज पंचपर्वा अविद्याजन्य अध्यासादि दोष सेवामें बाधक नहीं होते. अहंता-ममतास्पद सकल लोकसिद्ध वस्तुओंका भगवत्सेवामें विनियोगसे उनमें ब्रह्मात्मकता प्रकट

होती है. इसी अहंता-ममताके विनियोगार्थ तनुवित्तजाका उपदेश सिद्धान्तमुक्तावलीमें दिया गया हे. साथ ही साथ महाप्रभुजीने **''दर्पस्तु भगवदीयतया स्वल्पो मृग्यएव अन्यथा ज्ञानमार्गात् को विशेषः स्यात्?''** (सुबो.१०।५७।२९) भक्तिके साथ दर्प-अहंकारका आत्यन्तिक विरोध नहीं, दर्पाहंकार यदि भक्त्यात्मक हो. भक्तिके साथ जिस दर्पाहंकारका विरोध है वह तो जन्म (उदा.=गोस्वामिकुलमें जन्मनेका) ऐश्वर्य (उदा.फ्रान्स्-दुबइमें म्लेच्छसंसर्गसे नलका जलपान करनेपर भी बिचारे आज्ञाकारी वैष्णवोंसे कुआका जल रातको भरके ला करके देनेका ऐश्वर्य जोहुकुमी), श्रुत (उदा.अल्पतम मेधासे अल्पतर सिद्धान्तबोधके बावजूद अधिश्रुत होनेका), श्री (उदा.न नोकरी न धंधाकी कोई लायकात होनेपर भी महाराजीयतके कारण चरणभेंटसे बढ़ी श्री)के दिनदुगने रातचौगने बढ़ते मदका... माहात्म्यज्ञानसे विरुद्ध होनेके भक्तिके पूर्वांगमें ही व्यवधान आ जानेपर उत्तरांग भी प्रकट नहीं हो पाता. (द्र.**''जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिः एधमानमदः पुमान्, नैव अर्हति अभिधातुं वै त्वाम् अकिञ्चनगोचरम्''** (भाग.पुरा.१।८।२६) यह महाप्रभूपदिष्ट सेवा-भक्तिकी प्रक्रियासे निगूढ़ द्वेषके कारण गृहसेवामें दोषानुभावन उसके और उसके विपरीत देवालयकी प्रथामें अधिकारीकी अपरिहार्यता अधिकारवश अहंकारकी अपरिहार्यता और उसके कारण बिगाड़की खाद जगदुद्धारके बहाने गांठसे खरचनेके बजाय, जैसे श्रीमहाप्रभुजी श्रीगोपीनाथजी श्रीगुसांईजी करते थे, सेवा-सामग्रीके नामपर गामसे रुपये ऐंठनेकी कुटिलता, पुनः गामको निःशुल्क वितरित न कर प्रसादविक्रय करनेका महापराध! और उसकी वकालत! यह सब अहंकारका नंगा प्रदर्शन नहीं तो और क्या है?

जिस भक्तिके अभावमें जैसे अपने दुष्टकर्मोंके कारण भगवत्सांनिध्यवाले देश (**''भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः अन्यथाभावम् आपन्नः तस्मात् स्थानाच्च नश्यति''**, **''ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु''**, - **''जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरंगे वेङ्कटे तथा यत्र पूजाप्रवाह स्यात्...**

पूजाप्रवाहो भगवत्सानिध्यप्रबोधकः'', **''जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमंडले यत्र पूजाप्रवाहः स्यात्''** (सि.मु.१७,२०, त.दी.नि.प्र.२।२५५, साध.दीपि.३-६)में भी नाश गिनाया है. यह विधान गृहसेवार्थ है ही नहीं. उसे यहां अपने आचार्योपदिष्ट निरुपद्रव गृहसेवाप्रकारपर लागू करनेकी कुटिलता...

वार्ताभावप्रकाशके अनुसार तो कृष्णदासने अहंकार किया ही नहीं था, वह तो लीलार्थ शाप था. सो बिगार भी नहीं हुआ.

तब प्रभुचरणके ये उद्गार **''तो अधिकार बिना चलेगो नहीं जाको अधिकार दें ताको बिगाड़ होयगो और जाको बिगाड़ होनो होयगो सो आप ही आगे आवेगो''**की संगति बतानेके कष्ट लेकर दिखाना था.

भक्तिस्थके अहंकारका क्या कहना? जैसे भल्लार्जी और कृष्णदासजी को दिये गये उपदेशसे अपना निगूढ़ द्वेषभावको उघाड़ा पाड़ रहा है. **''अत्रापि वेदनिन्दायां अधर्मकरणात् तथा नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते''** (त.दी.नि.२।२१७) वचनमें नीचयोनिमें जन्म लेनेकी फिर आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि यही भाव नीचयोनिताका प्रमाण बन रहा है.

(अपार्थकयुक्ति २४)

और कृष्णदास अधिकारीकी वार्तामें यह भी प्रसंग आया है कि श्रीगोपीनाथजी पहेलो परदेस पूर्वको कियो हतो, सो एकलक्ष रुपैया पूर्वसो भेंट आइ हती. सो श्रीगोपीनाथजी प्रथम अड़ेलमें आयके कहे, जो यह परदेसकी भेंट श्रीगोवर्धननाथजी की है. सो यह कहिके लक्ष रुपया लेके श्रीगोपीनाथजी श्रीजीद्वार पधारे, सो तहां रूपे-सोनेके थार, कटोरा श्रीनाथजीको कराये. ता पाछें सेवाशृंगार करि श्रीगोपीनाथजी अड़ेलमें आये. तब बंगाली सब मिलिके सगरे थार कटोरा द्रव्य वृन्दावनमें अपने गुरूनके यहां पठाय दिये. इस वार्ताप्रसंगसे यह ज्ञात

होता है कि जब श्रीमहाप्रभुजीके प्रथमलालजी श्रीगोपीनाथजी परदेस पधारते थे तब भी बंगाली सेवकगण श्रीनाथजीके मन्दिरमें अपसिद्धान्त करते थे और श्रीगोपीनाथजीने एकलक्ष रुपयाकी सेवा श्रीनाथजीको अंगीकार करायी थी, वह सब कुछ बंगाली सेवकोने मिलकर अपने गुरुको वृंदावनमें दे दिया, इससे बड़ा अपराध (अपसिद्धान्त) और क्या हो सकता है!!!! फिरभी श्रीगोपीनाथजी श्रीनाथजीकी सेवा और दर्शन के लिये श्रीजीद्वार आग्रहपूर्वक अवश्य हो पधारते थे जिसका उल्लेख श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्तामें स्पष्ट प्राप्त होता है कि श्रीआचार्यजी महाप्रभुके प्रथम पुत्र श्रीगोपीनाथजी गादी बिराजे और तीन वर्ष पर्यन्त श्रीजीकी सेवा करे तहां तांई बंगाली सेवामें रहे. श्रीनाथजीके मन्दिरमें बंगाली सेवकोंका भाव दूषित होनेपर भी श्रीगोपीनाथजी श्रीनाथजीकी सेवामें पधारते थे क्योंकि श्रीनाथजीके साथ कोइ एक व्यक्तिका नहीं किन्तु सभी भक्तोंका भाव जुड़ा हुवा है. बंगाली सेवकोंका भाव दूषित था फिरभी श्रीनाथजी वहां सभी भक्तोंके भावसे बिराज ही रहे थे. इसी कारण श्रीगोपीनाथजी श्रीनाथजीकी सेवाका आग्रह अवश्य रखते ही थे. इन सब बातोंसे ऐसा कहनेका अभिप्राय नहीं है कि हरिस्थानमें जो दोष चल रहे है वो सब सही है, वह तो गलत ही है, जो व्यक्ति हरिके स्थानमें गलत काम करेगा उन्हें दोष तो अवश्य ही लगेगा एवं जिस व्यक्तिका भाव दूषित है केवल ऐसे लोगोंके लिये ही श्रीनाथजी नहीं बिराजेंगे और यदि शक्य हो तो उस गलत प्रक्रियाको दूर करनेका प्रयत्न भी करना ही चाहिये. परन्तु यदि मन्दिरमें कोइ व्यक्ति कुछ भी गलत काम कर रहा है तो उस बातसे यह निर्णय नहीं हो सकेगा कि सभी भक्तोंके लिये भी श्रीनाथजी वहां नहीं बिराज रहे है. एवं वहां भक्तोंको सेवा-दर्शनके लिये नहीं जाना चाहिये क्योंकि कोई एक व्यक्तिके भावसे नहीं परन्तु सभी भक्तोंके भावसे ही श्रीनाथजी बिराज रहे है और श्रीनाथजी तो सभी भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करने ही मेवाड़(नाथद्वारा)में पधारे हैं. इस बातका विवेचन पहले ही कर चुके हैं.

(निराकरण २४)

इसे बड़ा अपराध क्यों मानना चाहिये? क्यों एतदर्थ श्रीजीने उन बंगालिओंको निकालनेकी इच्छा प्रकट की? वह निकालनेकी आज्ञा दी उसका प्रामाण्य क्यों नहीं माना? जबकि आज भी टॅम्पल्बोर्ड पचास लोगोंसे मंगलभोग राजभोग आदिके अनाप-शनाप द्रव्य ले कर एक मंगलभोग या राजभोग धर रहा है. उसके भी पुनः विक्रयमें सबके कमिशन् होते हैं. तब बंगाली ब्राह्मण उनके गुरुओंके यहां भेजते थे तो आज वल्लभवंशज गुरुपदासीन भी वो ही लाभ ले रहे हैं. तब ऐसा लाभ महाप्रभु और दोनों प्रभुचरण लेतें थे ऐसा आलेख कहां है? प्रत्युत अपनी गांठका लगाते थें. दोनों स्थितियोंको एक समान तो साढुभाईके सिवाय कैसे कोई मान सकता है? यह तो सच है कि श्रीजीकी इच्छा देवालयमें बिराजनेकी होनेसे महाप्रभुजीने श्रीजीको अपने या अपने सेवकोंको घरके ठाकुरकी सेवा बतानेके बजाय गाममें ठाकुरजीकी बतायी सो जतीपुराके आसपासके व्रजवासिओं दर्शनार्थियोंकी वित्तजा सेवा और अब्रह्मसंबंधी अस्वमार्गीय बंगलियोंकी तनुजा सेवाकी देवालयोंकी मर्यादा जो रणछोड़रायजी आदि स्थलोंपर भी स्वयंस्थापित परप्रतिष्ठापित विभूतिओंकी निर्धारित थी वैसे की थी. केवल स्वरूपपर अपना स्वत्त्व रखा था जिसकी गवाही सदू पांडेके वचनोंसे मिलती है. परवर्ती कालमें भी ऐसे अनेक देवालय पुष्टिमार्गीय बहिरंग प्रणालीके ठाकोरजी बड़े दाउजी (महावन) द्वारकाधीशजी (मथुरा) माधवबाग (दक्षिण मुंबई और पार्ला) प्रथमात्मज श्रीगोपीनाथजीके मदनमोहनजी जो बंगालीओंके पधराये, जतीपुराके मुखारविंद आदि चिन्तामणि (गोकुल) माधवरायजी (माधवपुर) अनेक देवालयमें श्रीनाथजी केवल अपवाद नहीं है, मिलती है. वहां उस पुष्टिमार्गीय बहिरंग सेवाप्रणालीके कारण विगत ५००वर्षोंमें गो.बा. ५६भोग आदिके मनोरथ करवातें रहे हैं. पर कभी भी वहांकी आमदनीमें अपने हिस्सेका दावा नहीं किया. श्रीजीको महाप्रभु-प्रभुचरण इतना स्नेह करते थे कि अपुष्टिमार्गीय देवालयकी मर्यादामें श्रीजीके बिराजनेके बावजूद उनकी ही पूजाभक्ति

करते थे. आज परन्तु उन्हीं श्रीमहाप्रभु - प्रभुचरणके वंशज बंगाली ब्राह्मणोंकी तरह उस देवद्रव्यको अपने उपभोग लेते हों और उन्हें श्रीजीकी उस साक्षात् आज्ञा **"इन बंगालीन्‌को निकासो जो मोको अपनो वैभव बढ़ानो है"** उस आज्ञाका उल्लंघन करके खुदका वैभव भी बढ़ाते हैं और श्रीजीकी आमदनीमेंसे विविध प्रकारसे स्वयं वल्लभवंशज अपना हिस्सा पड़ाते हों तो **"मेरो व्हेके जो देवद्रव्य खायेगो सो मेरो नाहीं कहावेगो पतित ह्वै जायेगो"** ऐसे पातित्यका नग्नप्रदर्शन करते हों तो वैसा देवद्रव्यापहार जिन व्यक्ति अथवा व्यवस्था के माथे स्वरूप बिराज रहा है उसकी तुलना बंगाली जिनके माथे नहीं बिराजते उनसे कैसे की जा सकती है. जबकि गट्टुलालाजीने इस विषयमें महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान किया है वो यों है **"यत्र प्रतिमादौ बहवः स्वस्वसत्ताकवस्तु निवेदका भवेयुः तत्र स्वयमर्पितमेव स्वेन स्वेनोपभोक्तव्यं नतु निवेदकानभ्युनुज्ञातं परार्पितमपि"** (सत्.सिद्धा. प्रश्न५।७). क्या ये व्यवस्था वहांकी व्यवस्थापक मण्डली निभाती है? ५० मंगलभोगके द्रव्यराशि लेकर एक मंगलभोग धरा जाता हो उसमें निभाई ही नहीं जा सकती. फिरभी भेंट जमा करके प्रसाद लेना और हठात् बिचारे वैष्णवोंको लिवाना उसमें श्रीजीके प्रति भक्तिभाव कितना और साहुभाई होनेकी लाचारी कितनी? तो जब कृष्णदास भी हुवे तब उन्हें भी केवल दर्शन ही देते थे अन्य कुछ नहीं. श्रीवल्लभकानी यों खतम होनेपर आरोगते भी नहीं होंगे जैसे, श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्ताका विधान है. तो भोग धरी प्रसाद भी नहीं बन पायेगा और उसके प्रसाद लेनेवाली बुद्धि बिगड़े बिना रह नहीं सकती, जैसे कि अमदावादके श्रीरणछोड़रायजीके वचनामृत (४८४ - ४८७) में मिलता है.

(अनाम भगतिनके द्वारा फेसबुकपर पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर)

१.प्रश्न : भेंट - न्योछावर आर्थिक व्यवस्था है जिसे भावसे जोड़ना नहीं चहिये.

१.उत्तर : कोई स्त्री किसी पुरुषसे कहे कि "मैं तुम्हें प्रेम करती हुं" पर स्त्री प्रेम करनेकी रुपयोंमें फीस मांगती हो और पुरुष भी उसे फीस देता हो और दोनों कहें कि "ये आर्थिक व्यवस्था केवल है इसको हमारे प्रेम सम्बन्धसे न जोड़ना ही सही है". होगा सही पर कथा ये वेश्याप्रेमकी है स्त्री - पुरुषके सच्चे प्रेमकी नहीं.

२.प्रश्न : प्रभुसे हार्दिक और अंतरंग भावका प्रेम होना चहिये चाहे हवेलीमें हो चाहे घरमें.

२.उत्तर : कोई पत्नी कहे कि पतिके साथ - साथ अंतरंग प्रेम होना जरुरी है वह अपना हो या पराया. तो पराये पतिसे भी अंतरंग प्रेम तो हो ही सकता है परिणीताका, पर वह extra affair माना जाता है पतिप्रेम नहीं.

३.प्रश्न : प्रेममें नियमोंका उल्लंघन तो होता ही है.

३.उत्तर : होता ही है परन्तु पुष्टिमार्ग केवल प्रेममार्ग नहीं है क्योंकि प्रेमात्मिका भक्तिका मार्ग है जिसमें प्रेमके कारण कुछ नियम तोड़े जाते हैं और भक्तिके कारण कुछ नियम पाले भी जाते हैं. समर्पितका प्रसाद लेना होता है असमर्पितका नहीं लेना, अपने प्रभुका आश्रय करना होता है अन्याश्रय नहीं आदि रूपमें.

४.प्रश्न : नियमोंका पालन बराबर होता हो पर हृदय भावशून्य हो तो वह पुष्टिमार्ग नहीं. पुष्टिमार्गमें भाव सर्वोपरी है नकि नियम.

४.उत्तर : पुष्टिमार्गके प्रवर्तक महाप्रभुकी पुष्टिमार्गकी बात कर रही है या खुद प्रश्नकरनेवालीके पुष्टिमार्गकी? यदि महाप्रभुके तो जो नियम पुष्टिमार्गके महाप्रभुने बताये उनका उल्लंघन नहीं हो सकता. नहीं तो कृष्णकी मूर्तिसे ही क्यों क्राईस्ट या महावीर की मूर्तिसे क्यों हार्दिक अंतरंगभाव प्रेम नहीं किया जाता? यदि प्रश्नकरनेवालीका पुष्टिमार्ग तो उसकी तो मैंने चर्चा ही नहीं की है तो कॉमेन्ट

करनेकी क्या है.

५.प्रश्न : श्रीनाथजीके प्रसादके निषेधको नियमानुसार ठीक मानते हुये भी श्रीनाथजीके प्रसादसे मुझे खुद प्रेम है.

५.उत्तर : किसीको पुष्टिमार्गमें ऐसे ही उज्जैन भैरवजीके प्रसाद श्मशानके मुर्देकी राख और भोग धरी मदिरा के प्रसादसे भी प्रेम हो सकता है या नहीं? पुष्टिमार्गके नियमोंका उल्लंघन करके? हो तो सकता है पर तब वह महाप्रभुका पुष्टिमार्ग नहीं रह गया. प्रेममें यही अन्तर पड़ रहा है.

६.प्रश्न : बहुत ज्यादा नियम-नियम करनेपर सबका ध्यान पैसेपर चोंट जाता है प्रभुमें से हट जाता है.

६.उत्तर : यही बात दोहरायी जा सकती है कि उज्जैनके भैरोंजी श्मशानकी राख और शराब के प्रसादके साथ अन्तरंग प्रेम हो और वह नियम-नियम मत करो आन्तरिक प्रेममें क्या फर्क पड़ता हो तो क्या कहना?

७.प्रश्न : आर्थिक युग होनेसे पैसोंको लेकर बहुत जल्दी विक्षेप आता है. अत: सेवामें पैसेका उपयोग कर लिया जाये पर चिन्तन प्रभुका ही किया जाय.

७.उत्तर : वही दोहराना है कि आर्थिक युगमें प्रेम करनेमें पैसाका उपयोग कर प्रेमको भी बेचा-खरीदा जा सकता है पर ध्यान तो इन खरीदफरोख्त करनेवालोंका प्रेमपर ही रहना चहिये. हां रहना ही चाहिये क्योंकि यह प्रेम शुद्ध प्रेम न होकर अन्तमें प्रेमका व्यवसाय ही माना जायेगा.

८.प्रश्न : घरमें सेवा करनेवालेसे हम कुछ पूछ नहीं रहे हैं तो उन लोगोंको हवेलीमें दर्शन-प्रसाद लेनेवालेसे कुछ पूछना नहीं

चाहिये.

८.उत्तर : ऐसा सोचनेवाला महाप्रभुजीके दिखलाये पुष्टिमार्गका अनुयायी नहीं है वह तो खुदके मनगढ़ंत पुष्टिमार्गका अनुयायी है. उसे न हमें कुछ कहना और न हमारे कुछ कहेका उसको बुरा मानना चाहिये. क्योंकि हम तो महाप्रभुके पुष्टिमार्गकी बात कर रहे हैं.

——*

(हैदराबादके वैष्णवोंद्वारा प्रेरित प्रश्नोंके उत्तर)

गोवर्धन पर्वतपर स्थित देवालयसे बाहर कुंभनदासजी और साक्षात् श्रीनाथजी के खेलते समय उत्थापनका समय होनेपर कुंभनदासजी के साक्षात् स्वरूपको छोड़कर पर्वतपर स्थित देवालयमें बिराजमान विग्रह रूप श्रीनाथकी सेवार्थ तत्परताके वृतान्त को आजकल बढा चढा कर उछाला जा रहा है. पुष्टिभक्तिके मौलिक सिद्धान्तोंकी नींवको छिन्नभिन्न करनेको कि पुष्टिमार्गीय जनता खुदके घरोंमें बिराजमान सेव्यप्रभुमें शिथिल निष्ठावाले बन जाय. गोस्वामिओंकी भक्तिके व्यवसायार्थ चलायी जाती हवेलिओंमें उन्हें भटकता करने की कूटनीति इसमे बरती जा रही है. इस वार्ताको बहुप्रचारित करनेमें श्रीजीके भक्तोद्धारक भावात्मक स्वरूपकी तुलनामें क्रय्य वस्तु सदृश श्रीजीके स्वरूपको सर्वोद्धारकतया बिरदाया जा रहा है. दूसरे शब्दोंमें कहें तो आधुनिक पुष्टिभक्तिमें अंतरंग भावकी प्रधानताको घटा कर नेगभोगरागके वैभव और मेंडमरजाद की बहिरंग उपादानोंकी महत्ता दरसानेकी कुटिलताका यह नग्नप्रदर्शन सिद्ध करता हुआ साफ साफ दिखलाई देता है.

इस विषयमें, परन्तु मुख्यतया विचारणीय बिन्दुओंपर ध्यान देना आवश्यक है:-

(क)सर्वप्रथम यह वार्ता वास्तविक ऐतिह्य वृतान्तपर अवलंबित है अथवा तो महाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तको गौण बना देनेको महाप्रभुके ही द्वारा प्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपको हत्था बना कर वार्ताओंमें बादमें जोडा गया प्रसंग है? इसे निर्धारित करना आवश्यक है.

(ख)इस वार्ताके आधारपर प्रतिपादित होते सिद्धान्त क्या केवल जतिपुरास्थित देवालय और जहां सेव्यमान स्वरूपके सीमित अभिप्राय वश है? अथवा इसके अनुकरणपर फूट निकली सभी पुष्टिमार्गीय हवेलियोंपर भी लागू मानने? अथवा तो केवल गो.बा.ओंकी हवेलियों पर्यन्त नियमनिर्धारित करना अभिप्रेत है?

(ग)सामान्यरूपेण साकारब्रह्मवादमूलक निर्गुणभक्तिमार्गमें प्रमाणबल और साधनबल की प्रमुखता मान्य न रख कर प्रमेय और फलके बल की उत्कृष्टता जो- "**भगवति प्रमेयबलमेव मुख्यं न प्रमाणबलम्**" (सुबो.१०/८४/२३) वचनमें सिद्धान्तित की गयी उसे भी झूठला देना या इस ऐसे औत्सर्गिक नियमका भी कोई अपवादरूप सिद्धान्त यहां विवक्षित मानना?

(घ)भगवन्मूर्तिकी आराध्यतामें जो साकारब्रह्मवादकी मूलाधारोपम "साकारव्यापकत्वात् च" जो उपपत्ति है- "**तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्(भगवद्)रूपं तत्र (मूर्तौ) च स्थितम्** (त.दी.नि.२/२३०-२३२) अर्थात परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके साकार और व्यापक होनेके कारण भगवन्मूर्तिमें साकार-व्यापक भगवान् की साक्षात् उपस्थिति जो मान्य की गयी है उसके बजाय भगवन्मूर्तिका कोई विशेष मूर्ति होनेके कारण परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण होनेका नूतन सिद्धान्त प्रकट करना यहां अभिप्रेत है?

क्रमशः इन विचारबिन्दुओंका गंभीरतासे विमर्श करना हो तो-

सर्वप्रथम (क) यह वार्ता यदि वस्तुतः ऐतिहासिक वृतान्त हो तो इसमें कुंभनदासजीका यह विधान कि "उनके साथ क्रीड़ाभिरत भावात्मक श्रीजीका भक्तोद्धारक स्वरूप कब उन्हें छोड़ कर भाग जायेगा यह निश्चित न होनेसे और पर्वतस्थित देवालयमें बिराजमान सर्वोद्धारक स्वरूप तो महाप्रभुके द्वारा पधराया गया होने के कारण वहांसे कभी चलायमान/पलायमान नहीं होगा, सो वहां तत्पर होना अधिक वांछनीय है. यह तो स्वयं श्रीजीने ही महाप्रभु-प्रभुचरणके मनोरथोंके विपरीत अजबकुंवरबाई (जिसका बालविधवा होना आदिकी अनैतिहासिक गप्पगाथा) के मनोरथाधीन हो कर वहांसे चलायमान/पलायमान होना अकाट्य ऐतिहासिक तथ्य होनेके कारण कुंभनदासजीके विधानको

ही मिथ्यापित कर देता है. ऐसी स्थितिमें या तो परम भगवदीय कुंभनदासजीका विधान या समग्रवार्ता ही, दो में एक को मनगढ़ंत प्रक्षेप माने बिना कोई विकल्प ही नहीं बचता.

दूसरे (ख) इस वार्ताके आधारपर निकाले गये निष्कर्षके आधारपर भक्तोद्धारक भावात्मक स्वरूपकी तुलनामें सर्वोद्धारक बाह्य अभक्तजन पर्यन्त गोचर भगवत्स्वरूप को प्रधान मानते हैं तो महाप्रभुके पूर्व भी स्वमार्गीय वार्ताओं तथा पांचरात्रकी पौष्करसंहिता के, आधारपर भी तथा आधुनिक भारतीयविद्याविदोंकी धारणाके अनुसार भी इस कुषाणकालीन या गुप्तकालीन मूर्तिका धर्मिरूप असाधारण उत्कर्ष स्वीकारने पर तो श्रीजीके स्वरूपका वाल्लभ सम्प्रदायातीत उत्कर्ष भी स्वीकारना ही पडेगा. ऐसी स्थितिमें महाप्रभु-प्रभुचरणके धर्मिरूप निधि होनेका माहात्म्य भी खण्डित होगा ही. यह भी संभव है कि महाप्रभु-प्रभुचरणके मनोरथ-प्रतिष्ठाविधिके विपरीत अनैतिहासिक अजबकुंवरबाईके मनोरथाधीन मान्य रखनेपर श्रीजीके स्वरूपको वाल्लभ संप्रदायकी धर्मिरूप प्रमुखनिधि मानने के बजाय अजबकुंवरबाईके सम्प्रदायकी प्रमुखनिधिके रूपमें अब वर्तमान सिंहाडमें बिराजते स्वीकारना पड़ेगा, स्वयं श्रीजीद्वारा महाप्रभु-प्रभुचरणके मनोरथ-प्रतिष्ठाविधिके विपरीत वहांसे विचलित हो जानेकी स्वयं श्रीजीकी इच्छाके कारण.

यदि श्रीजीके अनुकरण पर भक्तिके व्यवसायार्थ चलती अन्यान्य सभी पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमे बिराजमान भगवत्स्वरूपोंके सर्वोद्धारक रूपकी महत्ताकी घोषणाके रूपमें इस वार्ताको आधार बनाया जाता हो तो वहां भी देवालयता माननी अनिवार्य बन जायेगी. फिर जेसे श्रीजीका देवालय सार्वजनिक था और वर्तमानमें भारतकी सर्वोच्चन्यायालयद्वारा भी निर्धारित कर दिया गया है वैसे ही सभी पुष्टिमार्गीय हवेलियोमें बिराजमान भगवत्स्वरूप किसी पुष्टिमार्गीय परिवार या समुदाय के निजी भगवत्स्वरूप न रह कर सार्वजनिक भगवत्स्वरूप सिद्ध होंगे. जहां दर्शनार्थीके द्रव्यसे सेवाराधनार्थ प्रदत्त द्रव्यराशीसे नैवेद्यादि सामग्रीमें देवद्रव्यता

न होनेपर भी देवस्वामिक चलाचलसम्पादित के बारेमें तो देवद्रव्यता अक्षुण्ण रहेगी. और उनका स्वार्थमयभोग आराधकों या प्रबन्धकों अस्पृश्य देवलक तो सिद्ध करेगा ही. इस विषयमें आधुनिक धर्मनिरपेक्ष संविधानको धार्मिक बाबतोंमें अनिर्णायक माननेका बहाना काम नहीं आयेगा क्योंकि यह तो पुष्टिमार्गमें मान्य शास्त्रेक्त विधान है और स्वयं पुष्टिमार्गीय ग्रन्थोंमें भी मान्य रखा गया है और परम्परा द्वारा भी.

यदि इसे अबुध आधुनिक वाल्लभोंके जैसे विधानोंके आधारपर यदि गो.बा.ओंकी हवेलियां और उनमें बिराजमान भगवत्स्वरूप तक अतिदिष्ट माना जाये जहां बुद्धिहीन अशास्त्रीय धारणाके आधार स्वार्थ-परार्थ उभयार्थ स्वरूपप्रतिष्ठा मानी जाती हो तो, ऐसा किस ग्रन्थ या वचन के आधारपर प्रस्थापित किया जा सकता है? गो.बा.ओंकी हवेलियोंमे स्वमार्गीयमर्यादाका निर्वाह भलीभांति हो रहा है. जबकि वैष्णवोंके घरमें वह अशक्यप्राय है; और, उस मार्गीय मर्यादाके आधिभौतिकी सेवा आध्यात्मिकी न बन पाती हो एतदर्थ वैष्णवानुगामियोंका हवेलियोंमें सेव्यस्वरूपोंके दर्शन-वित्तजा सेवा और भगवत्प्रसादके विक्रयमें खरीददार होना धार्मिक अनिवार्यता होता शास्त्रवचनोंके आधारपर पकवान्नविक्रेता ब्राह्मणवर्णसे भ्रष्ट हो कर शूद्रवर्णीय बन जाता है -

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुणं कुशान्॥
आरण्यांश्च पशून्सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च।
मद्यं नीलं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा॥
सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्॥

(मनु.१०/८१-९२)

उपर्युक्त वचनके आधारपर हम सभी गोस्वामी शूद्रवर्णीय बन जायेंगे जिनका गुरु पदासीन रहना शास्त्रमें अमान्य रखा गया है.

यदि वे स्वयं भगवत्स्वरूप भगवत्सेवा या भगवत्प्रसाद का विक्रय नहीं कर रहे परन्तु स्वगृहीत प्रभुस्वरूपके शेवाइत होनेके रूपमें कर रहे हैं अर्थात - पुजारीव्यवस्थापनकी हैसीयतमें तो यह खुलासा देना पडेगा कि निज आराध्य भगवत्स्वरूपकी ऐसी सार्वजनिक आराधनामें उनका अभिप्राय अनुगामी जनताका उद्धार है या खुदकी मानपूजार्थ प्रतिष्ठा बढाना? यदि प्रथम कल्प लेते हैं तो अवन्तिकाके कृष्णदासजीने खुदके घरके सेव्य स्वरूपको वसंतपंचमीसे पहले वसन्तोत्सव खिलाया तो श्रीजीने भी तत्पूर्व वसन्त खेले होनेके दर्शन प्रभुचरणको दिये, उस वार्ताके आधारपर आधुनिक वैष्णव जनताभी अपने-अपने घरोंमें बिराजमान सेव्य प्रभुको जो भी सेवोपचार करेंगे वह स्वयं श्रीजी क्यों अंगीकार नहीं करेंगे? आधुनिक वैष्णवोंके बारेमें यह वार्ताका उदाहरण यदि लागू न हो पाता हो, उनके जघन्याधिकारवश. तो आधुनिक गो.बा. कौनसे उत्तमाधिकारी है, भावहीन मार्गकी मेंडमर्यादाओंको पगारदार नौकरोसे पलवानेवाले? हम गो.बा.ओंके यहां भी मार्गीयमर्यादा जघन्याधिकारवश कहीं न कहीं तो तूटती होगी ही. स्वयं उनके कारण नहीं तो सार्वजनिक व्यावसायिक हवेलियोंको चलानेको अनिवार्य मुखिया-भीतरिया दूधघरिया, फूलघरिया, समाधानीकी बटालियनके जघन्याधिकारके कारण और यदि पगारदार भावहीन इन नौकरोंको भी उत्तमाधिकारी माना जाता है तो वैष्णवोंको ही जघन्याधिकारी केवल द्रव्य ऐंठनेके लिये माना जा रहा है यह सिद्ध हो जाता है.

तीसरे (ग) विचार बिन्दुकी दृष्टिसे विमर्श करनेपर भी प्रस्तुत वार्ता महाप्रभुकी मौलिक साकारब्रह्मवादमूलक निर्गुण भक्तिमार्गीय अवधारणाओंके मूलपर कुठाराघात करती होनेसे प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती. क्योंकि इस धारणाके अन्तर्गत प्रमाण या साधन बलोंकी तुलनामें प्रमेयबल या फलबल को उत्कृष्ट होना - "भगवति प्रमेयबलमेव मुख्यं न प्रमाणबलम्" (सुबो.१०/८४/२३) वचनमे सिद्धन्तित हुआ है इस वार्ताके आधारपर उसे भी झूठला जा रहा है. महाप्रभुके

दर्शन-धर्मकी दृष्टिसे सृष्टिके संविधानमें प्रमाण-साधनबलकी प्रमुखता मर्यादामार्ग है और स्रष्टा भगवान तो अपने प्रमेय-फलबलवश ही अपना कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्य प्रकट करते है. पुष्टिमार्गका दारोमदार तो प्रमेय-फलबल पर ही है. अतएव देवालयमें प्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप भक्तोद्धारकरूप तो प्रमेयबलद्वारा ही प्रकट करता है. इस वार्तामें उस प्रमेयबलानुरोधी भक्तोद्धार रूपकी तुलनामें प्रमाणबलानुरोधी सर्वोद्धारक देवालयस्थ देवविग्रहकी प्रमुखता का वृतान्त पुष्टिमार्गको मर्यादामार्गसम बनानेमें हीं नहीं प्रत्युत उससे भी गौणतर बनानेका षड़यंत्र स्पष्ट दिखलायी देता है.

एतावता भी यह वार्तामें प्रक्षिप्त लगती है. अबोध वल्लभबावा एक फेसबुककी क्लिपमें संवादमें वार्ताका प्रामाण्य नवरत्नकी श्रीपुरुषोत्तमजी व्याख्यामें उद्धृत होनेके बलपर मेरे मुखमुद्रणार्थ प्रस्तुत करते है. मेरा यह प्रतिविधान है कि पुरुषोत्तमजीद्वारा उद्धृत वार्ता सिद्धान्तानुकूल है. पुरुषोत्तमजीद्वारा ऐसी ही संगति भी दिखाई गयी है. प्रस्तुत प्रसंग तो सर्वथा प्रतिकूल अपसिद्धान्तकी वकालत करता होनेसे प्रक्षिप्त ही लगता है, जैसाकि पांच पीढी उपर हुए कामावाले गोविन्दजीमहाराज - "मूलग्रन्थाविरूद्धोंशो मान्यो नान्यो हि.... ज्ञेयोऽसौ धूर्तकल्पितः" (तत्रैव) कहते हैं.

(घ) चौथे विचारबिन्दुके आधारपर विमर्श करने जानेपर सर्वनिर्णय निबन्धके अन्तर्गत भगवत्सेवाको प्रतीकोपासना अथवा आधिभौतिक विषयोंकी आराधनाके आरोपसे बचानेको महाप्रभुने "**कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्. तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितं, साकारव्यापकत्वाच्च ...श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथा लब्धोपचारकै**" (त.दी.नि.२/२३०-२३२) इन वचनोंमें प्रतिपादन किया है कि प्रधानता भगवन्मूर्तिकी नहीं होती प्रत्युत परब्रह्म परमात्मा भगवान धर्मिरूप श्रीकृष्णके

साकार-व्यापक होनेके धर्मवश आकृति दृष्ट्या और तत्त्वदृष्ट्या उभयतः वहां विद्यमान होनेके कारण प्रमुखता आती है. अतएव भागवत एकादशस्कन्धकी कारिका -

लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः
महापुरुषम् अभ्यर्चेत् मूर्त्याभिमतया आत्मनः
(भाग.पुरा.११/३/४८)

यहां सेवकको अपने अपने भक्तिभाववश जैसा स्वरूप भजनार्थ अभिप्रेत हो वैसे भगवत्स्वरूपके साथ १. भगवदाकृति २. परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णके अभिन्ननिमित्तोपादान होनेकेकारण मूर्तिकी भगवदात्मकता ३. और अपने स्वभावानुरोधी भक्तिभावकी अवलम्बनविभावताके कारण भगवन्मूर्ति या भगवदाकृति की प्रधानताको गौण दरसाया गया है "**महापुरुषः = श्रीकृष्णः (आत्मनः) अभिमतया मूर्त्या = प्रकारसहस्रमध्ये नवनीतचौर्यादिरूपेतु स्वभावो नियामकः**" (सुबो.११/३/४८) इस विवेचनद्वारा. यहां ऐसी मौलिक विशेषता भी इस अपसिद्धान्तमूलक वार्ताके कारण ध्वस्त हो रही है.

एतावता गोविन्दजीके आत्मज श्रीदेवकीनन्दनाचार्यने जैसे खुलासा दिया कि अनुलिपिकारोंने द्रव्यलोभवश इन वार्ताओंमें गपोडाके टट्टु हांके है उसका ही यह वार्ता प्रकट उदाहरण है.

फ ३

एक अन्य वार्ता योगेशबावा पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंको सानुभावलाभ के लिए उद्धृत करते है:-

प्रभु सानुभावता कैसे जतावे??

- नित्य गुरु सेवा एवं वल्लभकुल मंदिर (हवेली) में प्रभु के दर्शन-सेवा
- नित्य वैष्णव सेवा
- नित्य स्वगृह में प्रभु सेवा

॥श्रीगुसांईजी के सेवक गंगाबाई क्षत्राणी की वार्ता॥

जो नित्य-श्रीगुसांईजी एवं आपश्रीके ठाकुरजी के दर्शन-सेवा करने के बाद, गुरु आज्ञा-कानि से अपने प्रभु की सेवा करते.

वार्ता प्रसंग - १

पाछें सवारे उठि कै श्रीयमुनाजी में स्नान करि कै श्रीगुसांईजी कों दरसन दंडवत् करि कै, श्रीगुसांईजी की सेवा करि कै, श्रीठाकुरजी के दरसन करि कै सब वैष्णवन कों भगवत्स्मरन करें, पाछें महावन जाँई. पाछें श्रीठाकुरजी कों

मए खर्चेके लोकउदार्थ अतिउत्तम जो ग्रंथ बनाये हे तिनकूं मुसाफखरीनके भक्षण करेवेमेंही आजके संप्रदाई पुरुषार्थ मानें हें यह कछु थोडी दिलगीर होयवेकी बात नहीं, लक्षावधि रुपैया अन्य उद्योगमें उडेजाय हें परंतु ऐसे अमुल्य उपयोगमें यावत् चंद्रदिवाकर वेशपरंपरा कीर्ति रहे एसो उद्योग करवेके आडी आजतांई या संप्रदायके धनिकनमेंसूं कोइको लक्ष गयोनहीं हे सो अवश्य जानोहि चहिये, जो स्वत. ग्रंथ बांच नहीं जानते होंय सोहू अन्यद्वारा बंचवाय श्रवणकर उनको सारांश जानलेनो चहिये, अपने पुत्रपौत्रनकों पढावने चहिये, ग्रंथनकी यथार्थ टीका करावनी चहिये केवल प्राकृतग्रंथनकेही ऊपर अवलंबन न करनों. कारन, मैंने प्रथम चोराशी वैष्णव और दोसोबावन वैष्णवनकी वार्ता छपवायेवेको विचार कर गोस्वामीवर्य श्रीदेवकीनंदनाचार्यकी सम्मति पुछी तब उनने आज्ञा करी जो प्रथम तो यह वार्ता ठीक हती परंतु पाछेतें लेखकनेने अपनी लिखाइको खोभसूं मनमें आवेतेसें गपोडा लिखलिखके पुस्तक बढाय ग्रंथ बडे बडे कर केवल द्रव्य उपजायवेकेहीसाधन कर दियेगये हें तद्वत् जेसें उन गपोडानपे भरोसो नही राख्योजाय तद्वत् संस्कृत ग्रंथनकी हूं टीका न होनी चहिये, टीकाहो बडे विद्वाननपेसूंही करावनी चहिये, कारन एक भाषामेंसूं दुसरी भाषामें ग्रंथको रुपांतर होयजाय हें सो यथार्थहीं होनो चाहिये, टीकाकारकूं अपनी चतुराई न बतानी चहिये, केवल अपक्षपाती यथार्थ टीकाकारे वेसोई टीका करेवामों चहिये, कारन ग्रंथकर्ताको आशय एक होय और टीकाकार अपनोही हठ चलावे तो ग्रंथको रुपांतर होय, एकको दुसरो सिद्धांत होयजाय, तातें अवश्य तो वेदपुराण पढनोंही ठीक हें एसी आज्ञा सुनतेही मैंने यो ग्रंथ छपवायेवेको मनोरथ

जगाय भोग धरे, सिंगार करें, रसोई करें. ता पाछें श्रीठाकुरजी कों राजभोग धरे. समै भए भोग सराय, आर्ति करि अनोसर करे. पाछें वैष्णवन कों बुलाय कै महाप्रसाद लिवावें. ऐसें नित्य करें. और कोऊ वैष्णव काहू दिना न मिले तो वा दिना आपु उपवास करें.

॥ श्रीगुसांईजीके सेवक बेनीदास दामोदरदासकी वार्ता, जो नित्य श्रीगुसांईजीके वहां सातो स्वरूपनके मंगलाके दर्शन करके ही अपने घरमें प्रभुकी सेवा शुरू करते॥

वार्ता प्रसंग - २

पाछे श्रीगुसांईजीने कही, जो अब सेवा करो. तब बेनीदासने बिनती करी, जो-महाराज! सेवा तो तब करें जब श्रीठाकुरजी बोलें. मांगि मांगि कै लेई तो सेवा करें. तब श्रीगुसांईजीने कही, जो भावसौ सेवा करो. श्रीठाकुरजी तुम्हारो सब मनोरथ पूरन करेंगे. पाछें श्रीगुसांईजीने सेवा पधराय दीनी. ता पाछें वैष्णवनसों मिलिकै सेवा पधरायकै सेवा की रीति-भांति सब सीखे. पाछें एक भाई सामग्री करे, एक भाई सिंगार करे. सो नित्य मंगलाके सातों स्वरूपनके दरसन करे. तब दोई वैष्णवन कों न्योतो दे आवते. ता पाछें दोऊ सेवामें न्हाते. सो राजभोग धरि कै समय होंइ तब भोग सराय महाप्रसाद वैष्णवन कों लिवावते. ता पाछें आप लेते. या प्रकार नित्य नेम तें भाव सहित सेवा करे. सो श्रीठाकुरजी सानुभावता जनावन लागे.

इसका सार यों है: एक वैष्णवको भगवत्सेवा भलीभांति करनेपर भी किसी तरह सानुभाव उसे सेव्य भगवत्स्वरूप द्वारा प्राप्त नहीं हुआ. तब प्रभुचरणने (श्रीजीके प्रतिदिन दर्शनकी आज्ञा देनेके बजाय!) प्रतिदिन उनके तथा सातों बालकोंके सेव्यस्वरूपके दर्शनको आया करो, ऐसी आज्ञा दी. बादमें उसे सानुभाव प्राप्त होने लगा. भगवत्स्वरूपसेवाप्रदर्शनयोगी योगेशबावा यहां ऐसा अर्थ विचारते हैं और प्रचार करते हैं कि गो.बा.ओंकी हवेलिओंमें दर्शन करे बिना अनुगामी वैष्णव जनताको भगवत्सानुभावकी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है. हे भगवान्! इन दुर्मतिओंसे कोई यह तो पूछे कि इन आधुनिक व्यावसायिक प्रदर्शनकी हवेलिओंको चलानेवाले पू.पा. महाराज, पगारदार मुखिया, भीतरिया, दूधघरिया. फूलघरिया, कीर्तनिया, समाधानियोंमें किनको भगवत्सानुभाव है?

अब यदि स्वयं नोकरीपेशा या व्यवसायपेशा उन भगवत्सेवाकर्ताओंको सानुभाव सिद्ध न हुआ तो वित्तजा-दर्शन-मनोरथ-प्रसादक्रयरूपा भक्त्याभासवालोंको कैसे सानुभाव सिद्ध हो जायेगा? उत्तररूपेण कहा जाये कि नौकरीपेशा या व्यवसायपेशा भगवत्सेवाकर्ताओं द्वारा रचे जाते भावाडंबरको देख जान पुष्टिभक्तिके बीजभाववाले पुष्टिजीवोंका भक्तिभाव दृढ कैसे हो जायेगा, जैसे पोर्नोग्राफीके चलचित्र देख कर रतिक्रीडा कैसे करनी कोई नवयुवक या नवयुवती स्वयं रतिक्रिया में कौशल प्राप्त कर सकते हैं. ऐसे पुष्टिजीव अपने प्रभुको भक्तिभावसे कैसे लाड़ लड़ाना जान कर प्रेम आसक्ति व्यसन अवस्था को प्राप्त कर पायेंगे!

वैसे सम्भावना तो यहां दोनों ही उतनी प्रबल लगती है कि गो.बा. हवेलियोंकी आडंबरपूर्ण व्यावसायिकताकी वास्तविकता देख कर वह वैष्णव भी भगवद्भावप्रवण होनेके बजाय आज आर्थिक प्रतिस्पर्धाकी कठिनाईओंको देखते हुए ऐसी व्यावसायिक प्रदर्शनकी हवेली खोल

धूम कमाई करने लग जायेगा भक्तिभावप्रवण होनेके बजाय! परन्तु इसकी ५०% सम्भावनाके तहद् यदि वह सचमुच भावपरायण भगवत्कृपावश हो जाये तो ऐसे सच्चे भावपरायणको हवेलियोंमें भगवत्सेवाके प्रदर्शनमें दर्शन-भेंट-मनोरथ-प्रसादविक्रयमें हिस्सा लेना आवश्यक नहीं, इतनी सूचना देना हवेलीसंचालकोंका कर्तव्य बन जाता है. जैसे एलोपेथीके डॉकटर शुरुआत सर्वथा हानिकारक स्टेरोइडको अल्पमात्रामें दवाईके साथ देकर रोगपर काबू मिल जानेपर धीरे-धीरे घटाकर बन्द कर देनेकी सलाह देते हैं!

वैसे ऐतिहासिक हकीकत एक यह है कि महाप्रभु-प्रभुचरणके कालमें अडैल गढा मथुरा या गोकुल में जहा वे बिराजते थे उन स्थानोंपर पगारदार नौकरोंके आधारपर चलती पुष्टिमार्गीय हवेली खोलनेके कोई इतिवृत्त मिलते नहीं है. जहां देवालय स्थापित किये हों. जहां बेट द्वारका डाकोर या जतिपुरा में देवालय स्थापित किये थे, वहां वे न तो स्वयंका व्यवस्थाधिकार और न लाभाधिकार ही रखते थे. मर्यादामार्गीय रीतिसे परार्थ देवालय तो तंत्रशास्त्राभिमत तथ्य है. यह भक्तिवर्धिनी, निबन्ध, सुबोधिनी, साधनदीपिका आदि मूलग्रन्थोमें उपदिष्ट भगवद्भावनिर्वाह की रीतिकें समाविष्ट ही था:-

१. **"त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात् तथान्नतः, अतः स्थेयं हरिस्थाने (देवालयरूपे) तदीयैः सह तत्परैः, अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति"**

(भ.व.७-८)

अतएव गृहस्थोंको भी अधोलिखित प्रतिबन्ध होनेपर इन दी जाती कारिकाओंमें उल्लिखित 'हरिस्थान'का खुलासा सर्वनिर्णयमें यों मिलता है:-

२. **"एतत् सर्व प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम् अन्येषां सम्भवेत्तु स्यात्. यतेः पर्यटनं**

वरम्; विक्षेपाद् अथवा शक्त्या प्रतिबन्धाद् अपि क्वचिद् अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसंभवे, तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठम्. सर्वेषां वर्णिनां तथा... अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतम् आदरात् पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्. वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि. तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहम् आचरेत्. त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णम् अवाप्नुयात्.

(त.दी.नि.२।२४६-२५४).

(स्वगृहसे अन्यत्र श्रीकृष्णके भजनस्थलोंका निदर्शन)

जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेंकटे तथा
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः ॥२५५॥

(त.दी.नि.२/२४६-२५५).

(तुलनीय-"तदीयैः सह तत्परैः भक्तिवर्धिनी ७-८)

३. **परमात्मनो विधिना न विभूत्यादिभजनप्रकारेण केवलपुष्टिमार्गीय इति अर्थः. तत्र अशक्तौ तन्त्रोक्तप्रकारेणापि कृष्णमेव भजेत्. अथवा समुच्चयो मर्यादया. उभयथापि पुष्टिमार्गस्थितत्वात् केशवमेव भजेत्.**

(सुबो.११।३।४७).

४. साधनदीपिकाकार श्रीगोपीनाथजी प्रथम पुष्टिमार्गानुगामी गृहस्थ शरणागत और समर्पित के प्रभेदोंके वश भिन्न कर्तव्योंका निर्देश दे कर वह जिसके लिये शक्य न हो उसके लिये पूजाप्रवाहस्थानों भगवदीयोंके साथ तत्परतया स्थितिः और वह भी शक्य न हो तो गंगादितीर्थ क्षेत्रोंमें पूर्वोक्त सप्तविध भक्ति और भागवतपठनमें तत्पर होनेका उपदेश दिया है. और तदंगभूत बाह्याभ्यान्तर अनुवर्तनीय नियमोंके भी उपदेश देते हुवे कहते हैं: **"जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले, यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत् च तत्परः."**

(साध.दीपि.३६).

बुद्धि ठस्स हो तो यहां भी ऐसा अभिप्राय प्रस्तावित किया जा सकता है कि व्रजमण्डलमें अवस्थित गो.बा.ओंकी हवेलिओंमें दर्शन-भेंट-मनोरथ-प्रसादक्रयरूपा भक्तिमें तत्परताका यहां उपदेश है. परन्तु महाप्रभुलिखित 'पूजाप्रवाह'रूप शब्दलिंगके आधारपर और जगन्नाथ द्वारिका तथा श्रीरङ्ग के साथ किये गये उल्लेखवश सिद्धान्तशुद्ध या अपसिद्धान्तविकृत पुष्टिमार्गीय सेवास्थलका कोई सन्दर्भ खड़ा नहीं होता. प्रत्युत मर्यादामार्गीय पूजाप्रणाली जहां निरंतर निभाई जाती हो उनके साथ अदूर-विप्रकर्षन्यायेन अवस्थित होनेका ही उपदेश सिद्ध होता है.

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इस विषयमें उल्लेखनीय एक बात है. यदि साक्षाद् भक्तोद्धारक भगवत्स्वरूपकी तुलनामें यदि देवालयस्थित सर्वोद्धारक भगवद्विग्रह अधिक माहात्म्यशाली हो, वह श्रीजीका या अन्य भी गो.बा.ओंकी हवेलियोंमें बिराजमान स्वरूप भी हो तो, जैसे पुष्टिमार्गी वैष्णवोंको उनके इन गो.बा.ओंके स्वरूपके दर्शन-प्रसाद-मनोरथोंके लिये भेंट धरे बिना जैसे निजगृहमें बिराजमान स्वरूप सानुभाव प्रदान नहीं कर पाता, वैसे ही सभी गो.बा.ओंको अपने-अपने ठाकुरजीकी सेवा छोड़ कर नाथद्वारामें श्रीनाथजीकी सेवामें ही गोविन्ददासजीकी तरह तत्पर हो जाना चाहिये. पगारदार कितने सारे कर्मचारियोंको निभानेका श्रीजीका बजट भी हल्का बन जायेगा. यह गो.बा.ओंकी वित्तजा सेवा नहीं कहलायेगी क्या? इन गोस्वामियोंको वहां मुखिया भीतरिया बालभोगिया दूधघरिया पानघरिया फूलघरिया शाकघरिया जलघरिया झापटिया भेटिया कीर्तनिया पखावजिया आदिके रूपमें श्रीजीकी सेवामें तत्पर हो जाना चाहिये. पर ये यदि वहां ऐसी सेवा करनेके बजाय खुदके ठाकुरजीकी सेवामें ही लाभपूजार्थ तत्पर रहते हों. तो बेचारे वैष्णव तो ऐसी किसी दुर्वृत्तिके बिना ही खुदके ठाकुरजीकी सेवामें तत्पर रहते हैं. इनके भक्तिभावको ऐसी मनगढ़ंत गप्पगाथाओं द्वारा खतम करके पुष्टिमार्गके मूलपर तो कुठाराघात करना अतीव जघन्य मानसिकता क्यों नहिं

मान लेनी चाहिये?

जिस बेनीदास और दामोदरदास की वार्ताके अधूरे उल्लेख द्वारा हवेलिंयोंका माहात्म्य बढ़ानेकी खुदकी कुटिल मनोवृत्ति उघाडी पाडी है, उस वार्ताके पूर्णतया अवलोकन करनेपर हरि-गुरु-वैष्णवसेवाओंको उत्तरोत्तर अधिक वांछनीय दिखलानेका वृत्तान्त प्रतिपादित हुवा है. सो निजस्वरूपकी सेवामें सानुभाव जैसे श्रीनाथजीके नित्यदर्शनके बजाय श्रीगुसांईजी और सातों बालकोंके सेव्यस्वरूपोंके दर्शननियमका उपदेश है वैसे ही सानुभाव सिद्ध हो जानेके बाद भी गुरुकी खवासी करनेका वरदान और मनोरथ निरूपित हुवा है. वह भी प्राप्त हो जानेपर वैष्णवोंकी सेवा करनेके वरदान और मनोरथ का वृत्तान्त मिलता है. सो यही सर्वाधिक वांछनीय क्यों नहीं माना? केवल गो.बा.ओंकी हवेलियोंमें दर्शन की बात बढ़ाचढ़ा के दिखला कर चुप्पी क्यों साध ली? वैसे प्रस्तुत वार्ताके क्लाईमेक्समें एक उल्लेख और आता है: "पाछे थोरेसे दिन रहिके श्रीगुसांईजीसों बिनती कीनि जो राज! आज्ञा होय तो सूरत जावें. तब श्रीगुसांईजीने प्रसन्नतापूर्वक इनको बिदा किये. ता पाछे श्रीगुसांईजीसों बिदा होयके वे अपने घर सूरतकों गये. पाछे भलीभांतिसों सेवा करन लागे".

इस वार्तामें भगवत्स्वरूपसेवाप्रदर्शनयोगी योगेशबावाने जो प्राथमिकताके क्रममें जालसाजी की हैं वह यों हैं : *नित्यगुरुसेवा एवं वल्लभकुलमन्दिर (हवेली) में प्रभुके दर्शन-सेवा. *नित्य वैष्णवसेवा *नित्य स्वगृहमें प्रभुसेवा. जबकि गो.बा.ओंकी हवेलियोंमें नित्यदर्शनके अत्यावश्यक नियमको तोड़ कर वार्तामें क्रम यों दिया गया है :

१.नित्य स्वगृहमें प्रभुसेवा

२.गुरुके सेव्यस्वरूपकी सेवाकी आज्ञाका उल्लंघन करके कुछ

काल तक गुरुसेवा,(द्रष्ट.''पाछें श्रीगुसांईजी आज्ञा किये, जो तुम फूलघर, पानघर, भंडार की सेवा करो. तब इन कही, जो महाराज! सेवा तो आपकी करें और फूलघर, पानघर, भंडार की सेवा तो न करेंगे. तब श्रीगुसांइजीने कही, जो हमारी खवासी करो'') साक्षाद् गुरुकी खवासीकी सेवा और

३.नित्य वैष्णवसेवा.

४.अन्तमें पुनः स्वगृहमें ही कुटुंवी जनोंके साथ स्वीय प्रभुकी ही सेवा.

क्योंकि तब सूरतमें कोई गो.बा.ओंकी व्यावसायिक प्रदर्शनकी हवेली थी ही नहीं!

यम-नियमनके भेदसों कह्यो प्रथम आचार।
यमकी बात भुलायके पाल्यो नियमाचार।।
तामें सबतें प्रमुख है अपरसको जु विचार।
खासाकी अपरस बड़ी पाछे सेवकी धार।।
सेवकीते नीचे लखौं पिंडरुकों निर्धार।
गये निपटवे तो लगे अधिक छुवेकी मार।।
मृतशरीरके परसते बढ़े अशुचिता भार।
देवद्रव्य उपभोगतें जन्मजाति अपहार।।
मनमानी मरजाद है मनमान्यो निरधार।
परंपरा की देत दुहाई लीला अपरंपार।।
देवद्रव्य भक्षण कर्यो भयी अपरस बंटाधार।
दिशाहीन मारग कियो ये तो महा बिगार।।

(गोस्वामी श्याम मनोहर)

——*

।। अथ योगेशभ्रातृव्यशिशिरः उवाच ।।

(हैदराबादके वैष्णव और शिशिरजीकि फेसबुक पर चर्चा)

Shishir Bawa: श्रीपन्नालालजी द्वारा पुष्ट लक्ष्मीनारायणका मंदिर हैं ऐसी आज्ञा श्रीदीक्षितजी तातजी कर रहे हैं.

जिन श्रीपन्नालालजी तातजीकी बात दीक्षितजी कर रहे हैं, वह तो माधवबाग, मुंबईमें है, बद्रीनाथ, पांडुरंग विट्ठलनाथ इत्यादिसु बहुत ही भिन्न, जाकी श्रीमहाप्रभुजीने कहीं कोई आज्ञा नहीं करी. और श्रीदीक्षितजी तातजी जो semi pushtimarg की आज्ञा कर रहे हैं वाके भी प्रमाण कहाँ उपस्थित हैं?

Hyderabad Vaishnav: हम तो बोले जेजे सामने चलके बात करते चलो, तो बोले काकाजी भड़क जावे, जो पुछे वो नहीं बोले और उसपे ही प्रश्न करे ऐसो बोले जेजे.

Shyam Bawa: इन सबको श्रीमहाप्रभुजी भक्तिमार्गके तहद नहीं, प्रपत्तिमार्गके तहद बता रहे हैं, जिसे दादाजी Semi Pushti कहते हैं. इस यह लोग व्यावसायिक पुष्टिभक्तिकी वकालत करनेको सहारा लेते है. अनपढ़ होनेके कारण. फोरवर्ड कर दो मेरे नाम से.

Shishir Bawa: ये राणा व्यासकी वार्ता है जामे द्वारिकाके मंदिर में भी commercial प्रवृत्ति हती. ये श्रीमहाप्रभुजीके कालकी बात है. फिर भी श्रीआचार्यचरण इन मंदिरमें जावेकी आज्ञा कर रहे हैं. स्वयं श्रीगुसांईजी ६ बार द्वारिका पधारे. याको अर्थ वंहा प्रभु नहीं है ऐसे नहीं कह सके.

Shyam Bawa: मर्यादामार्गीय मंदिर या देवमूर्ति किसी व्यक्ति या कुलके मालिकीके नहीं होते. अतः वहां पूजार्थ भेट चढ़ावा भी शास्त्रोंमे भक्तिका व्यवसाय नहीं माना गया. हम गुसांई बालकों की हवेली और ठाकुरजी हमारे मालिकी के होते हैं. अतः हमारी भगवत्सेवा हमारी भक्तिका आडंबर, अर्थात् सच्ची भक्ति न होकर भक्ति का घिनोना व्यवसाय ही है. जिसे करनेपर ब्राह्मण चांडाल जितना पतित हो जाता है एसा शास्त्रोंके आधारपर श्रीमहाप्रभुजी गुसांईजी आदि सभी प्राचीन बालकोंने मान्य रखा है. यदि वो मान्य हो तो सेवाके नामपर धन ऐंठना बंद करनेकी बातपे मिर्ची लगनी नहीं चाहिये पर शरमा कर तुरंत सुधर जाना चाहिये.

Shri yogeshBawa Audio clip:

(એક વૈષ્ણવ પ્રશ્ન પુછી રહ્યા છે): આપણે ત્યાં શ્રીનાથજીબાવાનુ પ્રાગટ્ય હતુંજ ને તો શ્રીનાથજીમાં જઈને પરિચર્યા કરવા માટે કાંઈ એમ આજ્ઞા નથી કરી મહાપ્રભુજીએ જગન્નાથજી, વિટ્ઠલનાથજી પાંડુરંગ આ બધી જગ્યાએ કીધુ બરોબર, અટલે આ પુષ્ટિમાર્ગીય હોવા છતાં તો ત્યાં જવાની કેવી રીતે આજ્ઞા?

Shri yogeshBawa Audio Clip: (શ્રીયોગેશ-બાવા જવાબ આપી રહ્યા છે): એમ નથી... એવું છે એમાં કાં તો આ જે મંદિર અહિંયા ગણાવે છે ને એ ઉપલક્ષણ વિધિથી ગણાવ્યા છે એટલે આટલાજ નહીં લેવા પણ આ પ્રકારના જે બી મંદિર હોય એ બધા લેવા "यत्र पूजा प्रवाहः स्यात्" જ્યાં પણ તંત્રોક્ત પ્રકારથી સેવા પૂજા થતી હોય એ બધા મંદિર લેવા એટલે એમાં શ્રીનાથજી મંદિર પણ આવી

જાય, આવી જાય ને?, એટલે બધાજ નથી ગણાવ્યા અહીંયા, પણ શું છે કે હવે શ્રીનાથજીમાં આજ કાલની ચીજ એવી છે આ બધી જગ્યા એ તકલિફ છે બધી જગ્યાએ commercialization થઈ ગયુ છે તે સ્થિતિમાં આપણે ત્યાંથી બચવું પણ પડશેને પાછુ જ્યાં બી વ્યાપારીકરણ થઈ ગયું હોય ભક્તિનું સેવાનું તો વ્યાપારીકરણ થી આપણે બચવું પણ પડશે. એટલે આજે બધીજ વસ્તુ કોન્ટ્રાક્ટ પર આપવામાં આવે છે. જેમ બેઠકજી કોન્ટ્રાક્ટ પર છે એવી રીતે શ્રીનાથજીમાં ત્યાં બધા ડિપાર્ટમેન્ટ કોન્ટ્રાક્ટ પર છે. પાનધર કોન્ટ્રાક્ટપર ફૂલધર કોન્ટ્રક્ટપર તો હવે એટલે જેને પાનધરિયા બનવું હોય એને આટલા પૈસા ત્યાં જમા કરાવી દેવા પડે જેમ ૫ લાખ કે ૧૦ લાખ, જે પણ કાંઈ નક્કી થયા હોય અને પછી શું થાય કે પાનધરની સેવા કરવા જે વૈષ્ણવ આવે એની પાસેથી પૈસા લેય કેમકે એણે જે ૫ લાખ રૂપ્યા આપ્યા છે એને પૂરા કરવાના હોય તો એ જ્યાં સુધી તમારી પાસેથી પૈસા ઉઘરાવશે નહીં ત્યાં સુધી એને ફાયદો શું? એણે તો ૫ લાખના ૧૦ લાખ કરવાના હોય એ કાંઈ ૫ લાખના ૪ લાખ થોડી કરવાના હોય. તો આ બધી પરિસ્થિતિ થી આપણે બચવું પડશે એટલે ત્યાં હવે જવાનો અર્થ નહીં રહ્યો ને સેવાનું વ્યાપારીકરણ થઈ ગયું હોય ત્યાં માણસ કેવી રીતે જઈ શકે? અને શ્રીનાથજી બી શુંકરવા એવી જગ્યાએ

બિરાજે શુંકરવા એ સેવા અંગીકાર કરે "**शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्या विशारदा**" આપણે કહિયે છિયે તો પછી આવી રીતે સેવા કરિયે તો એ કેવી રીતે સ્વીકારે સેવા, એ સ્વીકારેજ નહીં ને સેવા એવી, એ કરવાનો કાંઈ અર્થ નથી.

ये ऑडियो क्लिप में ऐसे योगेशदादाने कही है कि यदि व्यवसायीकरण है तो मर्यादामें भी प्रभु नहीं बिराजे है फिर द्वारका या अन्य कोई भी वैष्णव धाम जिनके नाम श्रीआचार्यजीने निबंधमें बताये हैं, वहां जानो के नहीं जानो? और यदि जावे तो कौनसे प्रमाणवचनसु?

Shyam Bawa: सवाल हवेलीमें या घरमें अथवा कुछ मर्यादामार्गीय मंदिरमें तो जानो के नहीं जानो ये नहीं है. कुछ म्युझियममें भी ऐसे बडेनके पुष्ट किये स्वरूप बिराजते होंय, कुछ तो यहां मुम्बईके चोरबजारमें मुसलमाननकी भी दुकाननमें बिकवेके लिए रखे होवे हैं. हवेलीनकी ग्वालमंडलीमें बिराजते स्वरूप नोकर चाकर चोरबजार मे बेच आते होंवे तो उन मुसलमानकी दुकानमें बिकते स्वरूपके दर्शन और भोग धर के प्रसाद लेनो के नहीं? तो बडेन्ने वे स्वरूप पुष्ट किये कि नहीं किये? यदि पुष्ट किये सो पुष्टिमार्गीय प्रकारसु किये पर स्वतनुवित्तजा सेवार्थ स्वगृहमें पुष्टिरीतिसु सेवार्थ न किये परन्तु मर्यादामार्गीय देवालयवाली सेवार्थ किये जैसे डाकोरजी आदिमें तो न पुरो पुष्टिमार्ग न पुरो मर्यादामार्ग, तो 'सेमिपुष्टि' न कहनो तो क्या कहनो? शिशिरबावाकु मेरे तरफसु कहो कुछ समय निकालके तुलसीशास्त्रीसु श्रीमहाप्रभुके सभी ग्रन्थ तरह पहले पढ़ें वाके बाद सिद्धान्ततः क्या सच और क्या गलत वापे बोलनेको साहस करें तो प्रश्न और समाधान पूरे पहलु समझ आवेंगे इक्का दुक्का ग्रन्थ

पढके मुरख जनताके बीच प्रवचन करवेकु खाली अनुवाद पढ़नेसु ऐसी बहकी बहकी निरर्थक चर्चा चलती रहेगी. तुलसीशास्त्रीसु पहले बराबर सब ग्रन्थ पढ़े वामें शिशिरबावाको और मार्ग को भी भलो होयगो बुरो नहीं.

Shishir Bawa: मर्यादामार्गीय मंदिरमें देवद्रव्यको प्रकार है ही नहीं शास्त्रानुसार, क्या यह कहनो है आपको? पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा प्रकारमें, पुष्टि या मर्यादा वैष्णव तंत्रसु प्रकार होवे तो ले सकें यह स्पष्ट है, पर semi pushtimarg क्या है यह समझाओ जाकी आज्ञा दीक्षितजी तातजी कर रहे हैं, पुष्टि होतो तो पुष्टि कह्यो होतो और मर्यादा होतो तो मर्यादा कहते, यह semi pushtimarg क्या है यह बताओ?

मर्यादामार्गीय मंदिरमें देवद्रव्यको प्रकार है ही नहीं शास्त्रानुसार, क्या यह कहनो है आपको? तो यह वार्तामें राणा व्यासकु ग्लानि क्यों भई.

Shyam Bawa: या तो पहले शास्त्र अच्छी तरहसे पढ़ो फिर कुछ बोलनेका साहस करो कि शास्त्रके अनुसार देवालयोंमे देवद्रव्य होता कि नहीं होता ऐसे विधानोंमें तो शास्त्रका हास्यास्पद अज्ञान प्रकट हो रहा है. मूलमें यह सवाल ही अज्ञानमूलक है. तुलसीदासजीकु एकबार बुलाके अच्छी तरहसे शास्त्रका अध्ययन करो उलूल जलूल बहसमें समय बरबाद करनेके बजाय मानो मेरी बात, नुकसान कुछ भी नहीं होगा और फायदा क्या उसकी अभी आपको कल्पना भी नहीं आ पायेगी.

Shishir Bawa: श्रीमहाप्रभुजी एवं आप बडेन्की कृपासु श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा कुछ स्फुरित भई है, शास्त्रीजी भी यथासंभव सहयोग

करे हैं, परंतु पुरे साहित्यमें semi pushtimarg पर कोई आज्ञा प्राप्त नहीं हो रही, आप बड़े हैं सो आपसु ही यथोचित प्रमाण की अपेक्षा रख सकें, कोई ऐसो ग्रन्थ या पंक्ति जो यदि मैं चुक्यो हूँ तो आप आज्ञा करें जासु हमारो संदेह दूर होवे. आप बड़ेन् के मार्गदर्शन सदैव अभिलाषी हूँ. और एक जिज्ञासा भई है, जैसे आपके msg में आपने लिखी है कि यदि पुष्ट करे और पुष्टिमार्गीय प्रकारसु पुष्ट करे परंतु स्वतनुवित्तजा सेवार्थ स्वगृह में पुष्टिरीति सु सेवार्थ न करें तो स्वार्थ प्रतिष्ठा कैसे भई? और स्वमार्गीय प्रतिष्ठाको प्रकार तो स्वगृहको ही है न कि पुष्ट करवे में भी semi pushtimarg को कोई अलग प्रकार है? काकाजी मेरी जिज्ञासाको बहस समझ रहे हैं, इसलिए व्यथित हूँ, बड़ोंसे बहस करनेकी रीत हमारे यहाँ नहीं है, इसलिए आगे कहनेको कुछ नहीं, बाकी काकाजीके यह उत्तर से जिज्ञासा और बढ़ गयी है. और हाँ, शास्त्राध्ययनमें रुचिके कारण ही जिज्ञासा होती है, जो अपठित और केवल प्रवचनोंके लिए पढ़ते हैं उन्हें जिज्ञासा क्यों होगी.

Shyam Bawa: मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई यह जान कर कि शास्त्राध्यनमे रुचिके कारण जिज्ञासावश शिशिरबावा प्रश्न करना चाहते हैं. यह तो सर्वथा अभिनन्दनीय विधान है. चिरं जीव!जीवेत शरदः शतम्! तत्वजिज्ञासाके इसी शुद्ध मनोभावको रखते हुए पब्लिक मिडियामें डिबेटकी धांधल करनेसे पहले तुलसीदासजीके साथ शंका-समाधान कर लिया होता कितनी अच्छी बात होती! यदि मेरे साथ चर्चा करनेमें मैं भडक जाता हूं ऐसी मिथ्या धारणासे ग्रस्त थे तो स्वयं एक मेरी बात सुननेवालेकी निंदार्थ श्यामपंथी होनेका फतवा जारी करना और फिर "बडोंसे बहस करनेकी हमारी रीत नहीं" भी कहना. ऐसे असमंजस मनोभाव और व्यवहार के कारण मैंने पब्लिक मिडियामे चर्चा छेडनेके कारण बहस करना चाहते हो तो पहले बराबर शास्त्राध्ययन करनेका शुभाशय दिखाया. क्योंकि हर सवालमें शास्त्राध्ययनकी कमी

झलक रही थी. मगर अब तथारोपित श्यामपंथवाले मुझसे यदि कुछ जिज्ञासाभावसे या शास्त्रार्थ द्वारा भी कुछ पूछना समझना हो तो मैं काकाजी लगता होउंगा तोभी शिशिरबावाको व्यथित करनेकी क्षमा मांगते हुए भडके बिना चर्चा करने तैयार हूं. क्योंकि यह मुद्दा मेरे बड़े होनेका या शिशिरबावा के छोटे होनेका नहीं स्वभागके सच्चे सिद्धान्त के प्रति वफादारी निभानी या अनुगामी वैष्णवोंको अपने आर्थिक स्वार्थवश बरगलानेकी मजबूरी जैसी कि योगेशबावाने इनके पास केसेटमें कबूल किया जो शिशिरबावाने आपको सुनाई उसकी है.

तब ठेकापे उठाना शुरु नहीं हुआ था और यदि हुआ होगा तो तथ्य पता नहीं था जैसे मर्यादामार्गीय मंदिरोंका प्रसाद लिया जा सकता वैसे लिया जा सकता है. ऐसा स्वीकारा था बादमें यह पोलमपोल उघाड़ी पड़ी कि एक ओर उसे सार्वजनिक देवालय कहा जा रहा है दूसरी ओर तिलकायत महाराज २०% कमिशन लेते हैं. प्रसाद विक्रयके ऐसे जघन्य व्यापार भगवत्प्रसाद दूसरे मर्यादामार्गीय मंदिरों नहीं चलता होगा और चलता हो तो वहां का प्रसाद भी नहीं लेना चाहिए. यही तो शाखाचंक्रमणकारी योगेशबावाने भी भेजी गयी साऊंड क्लिप में कबूला है उसमें चुप्पी क्यों मार गये? ये बात तो सही है कि योगेशबावाका दोगलापन सिद्धान्तपर आधारित नहीं हो कर साढूभाई होनेकी लाचारीपर आधारित है. ऐसी योगेशबावाकी कबूलात इनके चचेरे भाई शिशिरबावाके पास ही रेकोरड़ेड, जो उन्होंने हैदराबादके वैष्णवोंको सुनाई. इतने घटिया किसमकी मार्गनिष्ठा है ऐसा तो स्वप्नेमें भी मुझे खयाल नहीं था. अन्यथा इनको मार्गीय ग्रन्थ पढ़ाता ही नहीं. यह अपराध तो श्रीमहाप्रभुजीका मुझसे भयंकर हुआ है. कोई भी चर्च, मझजिद, गुरुद्वारा किसी एक परिवारके भरण पोषणके लिए चलाये नहीं जाते. हमको शरम नहीं आती अपने इस नंगेपनपर कि हम अपने ठाकुरजीकी सेवा - मनोरथ - तीर्थ - नाम - प्रसाद

आदि सभी कुछ, बेचनेका धंधा करते हैं. धिक्कार है हमको. अभी सुननेमें आया कि योगेशबावा भी वसंत धमारके किर्तन सिखाने के ३००/- रुपया पब्लिकसे ऐंठते हैं. कहां तो "मन्नाम् विक्रयी विप्रो मद्भक्तोपि न मे प्रियः" का सिद्धान्त और कहां इनकी दुर्गति! बद्रीनाथ गंगोत्री यात्रामें नलका जल नहीं चलेगा का नाटक करनेवाले दस दिन दुबईमें कौनसा जल वापर रहे थे? ऐसे पाखंड करनेका रहस्य क्या है?

Hyderabad Vaishnav: ये दूसरे वैष्णवने मोकु पठायो हतो वाकु मैंने शार्ट में ये जवाब दियो है, आपश्रीने इस विषयमें बहोत बार खूब श्रम लेकर के वैष्णव सृष्टि को समजायो है, फिर बात वो की वो आ रही है, करके आपकु श्रम न होवे ये प्रयोजन सु मैंने उनको जो जवाब दियो वो इस प्रकार है, अनधिकारचेष्टा भयी होय तो क्षमा किजिएगा.

Shyam Bawa: अपनों श्रीनाथजी सर्वत्र बिराजमान है हर भक्तके घर वो ही बिराजमान है, घरवालो प्रेय नहीं लगतो होय तो भी श्रेय है, और बहारवालो कितनो भी प्रेय लगेगो लेकिन काम में तो घरवालो ही आयेगो, ये सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्याश्रयकी भेदरेखा है, इतिहाससु धर्माधर्म या कर्तव्य को निर्धारण करनो है तो सारो इतिहास लाओ वा समय की प्रसंगानुकूल, अधिकारिभेद और भगवदइच्छा की आज्ञा कु जब तक अपन बिना पुष्टिविवेकके समजोंगे तब तक देवकु द्रव्यार्जन के लिए बेचनेवाले ये भोली सृष्टि कु बेवकूफ बनाने में सफल होती रहेगी.

Shishir Bawa: અમૃતનુ આચમન નામક પુસ્તકમાં શ્રીશ્યામમનોહરજી કહિ રહ્યા છે "મને લાગે છે કે, રામદાસજીને નેગ મળવાની કે

શ્રીમહાપ્રભુજી શ્રીગુસાંઈજીની પ્રસાદ લેવાની આપની યુક્તિનું પણ સમાધાન આથી થઈ જાય છે. આ કહેવા છતાંય જો જગદીશમાં પ્રસાદ લઈ શકાતો હોય તો શ્રીનાથજીનો પ્રસાદ શા માટે નહીં? વર્ણાશ્રમના ભેદ વગર જો જગદીશનો સાખડી પ્રસાદ લઈ શકાતો હોય તો તેથી અન્યત્ર તેનું અનુકરણ ન થાય. તેમ જ શ્રીનાથજીનાં દેવદ્રવ્યનો પ્રસાદ લઈ શકાતો હોય તેથી સર્વત્ર તે અનુકરણીય નથી થઈ જતું. જગદીશજીના સાખડી-પ્રસાદના માહાત્મ્યની જેમ આ કદાચ શ્રીનાથજીના સ્વરૂપનું માહાત્મ્ય ન હોઈ શકે''? (અમૃતનુ આચમન ૧૯૮૬). १९८६ की पुस्तकमें श्याममनोहरजी वैष्णवोंको श्रीनाथजीका प्रसाद लेनेके लिए केह रहे हैं और अब श्रीनाथजीके प्रसादका विरोध कर रहे हैं, इसी को दोगलापन कहते है!.

..."नहीं? श्रीजी तो शुरुआतसे ही घरमे नहीं बिराजे पूरे पांचसोवर्षका इतिहास देख लो कि श्रीमहाप्रभुजीने बिनती की तो भी नहीं बिराजे. श्रीगुसांइजीने कहा तो भी नहीं बिराजे श्रीगिरधरजी तो घरमें पधरा भी लाये तो भी नहीं बिराजे और सिंहाड़ पधारनेके बादका तो श्रीतिलकायतका तुम इतिहास देख लो तो ख्यालमें आयेगा कि हरेक दूसरी तीसरीके पीढ़ी बाद जो भी तिलकायत हुए उन्होंने यह संघर्ष किया कि श्रीनाथजी घरमें बिराज जाऐं पर बिराजे नहीं अंतमे वर्तमान तिलकायत सुप्रीमकोर्ट

तक लड़कर हार गये कि यह घरके ठाकुर है. अब जो यह जगतमें पुजवाना चाहे तो इनका कौन मालिक? श्रीजीका कोई काम सिद्धांत नहीं है. श्रीजीकी चर्चा हमसे नहीं हो सकती उनकी लीलाका श्रीमहाप्रभुजीके ग्रंथोंसे विवेचन नहीं किया जा सकता इस कारण हम श्रीजीकी नकल नहीं कर सकते, यह समझो."
(श्याममनोहरजी नवरत्न प्रवचन १९८४).

"पुष्टिमार्गके प्रभातकालकी दूसरी पीढ़ीपर अवस्थित गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके इतिवृत्तमें भी ज्येष्ठपुत्रके उत्तराधिकारवादका झंझावातोपम कानूनी मुद्दा उठा था. स्वयं श्रीमहाप्रभुके शिष्य अष्टछाप श्रीकृष्णदासजीने यह कलह खड़ा किया. जतिपुरामें श्रीनाथजीकी सेवा करनेके प्रभुचरणके अधिकारपर तब प्रतिबन्ध लगा दिया गया! उस समय यह देवालय सार्वजनिक था इसे तो नकारा नहीं जा सकता परन्तु बादमें यह निजी पारिवारिक बना लिया गया, यह भी ऐतिहासिक तथ्य अक्सर भुला दिया जाता है."

(श्याममनोहरजी बुक - आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली का आपसी टकराव - २००६)

"વૈષ્ણવો! પુષ્ટિમાર્ગના ઈતિહાસમા નિ.લી.પૂ.ગો. શ્રીદીક્ષિતજી મહારાજ (બડા મંદિર મુંબઈ) પ્રકાંડ વિદ્વાન આચાર્ય તરીકે ખ્યાતિ પ્રાપ્ત હતા. આપે પોતાના પ્રસ્તુત લેખમા વલ્લભવંશજ આચાર્યોના પુષ્ટિમાર્ગીય મંદિરો (હવેલીઓ) નંદાલયસ્વરૂપ છે. એમ આજ્ઞા કરી

છે. ત્યારે એજ મહાન આચાર્યના પુત્ર ગો. શ્રીશ્યામમનોહરજી અને એની ટોળકી પુષ્ટિમાર્ગના આરાધ્ય દેવ, શ્રીમહાપ્રભુજીના સર્વસ્વ તેમજ વૈષ્ણવોના પ્રાણ પ્યારા એવા શ્રીનાથજીના તથા અન્ય પુષ્ટિમાર્ગીય મંદિરો (હવેલીઓ) નો વિરોધ કરી શ્રીનાથજીને મર્યાદામાર્ગીય સિદ્ધ કરવાની કુચેષ્ટા કરી વૈષ્ણવ સમ્પ્રદાયની ૫૦૦ થી વધુ વર્ષ પ્રાચીન ગરિમાને કલંકિત કરવાનુ કુકૃત્ય કરી રહ્યા છે. વૈષ્ણવો! પૂ. શ્રીદીક્ષિતજી મહારાજનો આ લેખ વાંચી તમે જાતે જ વિચારો કે પુષ્ટિમાર્ગના સંસ્થાપક શ્રીમહાપ્રભુજી અને શ્રીગુસાંઈજીના સમયથી ચાલી આવતી પરંપરા સાચી કે આધુનિક વૈષ્ણવાચાર્ય ગો. શ્યામમનોહર (પાર્લા) ની મનઘડંત કહાની સાચી??? માટે આવા શ્રીનાથજી વિરોધી દેવલકવાદિ તત્વોના દુષ્પ્રચારથી ભ્રમિત ન થઈને આપણા માર્ગની પ્રાચી પરંપરા દ્વારા નિઃસંકોચ સ્વધર્મ પાલન કરવાની તથા ગો. આચાર્યશ્રીઓના મંદિરો (હવેલી) માં દર્શન, મનોરથ, મહાપ્રસાદ આદિ આનંદથી કરવાની વૈષ્ણવોને અનુમતિ છે.

ખાસ નોંધ: આ વિષય પર ગો. શ્રીહરિરાયજી મહારાજશ્રી (જામનગર) ફરીથી ગો. શ્યામમનોહર (પાર્લા) ને શાસ્ત્રચર્ચા માટે ખુલ્લો પડકાર (open challange) આપી રહ્યા છે. હિમ્મત હોય તો વિદ્વાન મધ્યસ્થી વાલી શાસ્ત્રચર્ચા સભામા શાસ્ત્રચર્ચા કરે અન્યથા વૈષ્ણવ સમાજને ભ્રમિત કરી ગેરમાર્ગે દોરવાનુ હીન કૃત્ય બંધ કરે''

પુષ્ટિ સિદ્ધાન્ત સંરક્ષણ સમિતિ - જામનગર

Shyam Bawa: ऐसे मेरे विरोधमें अनेक वचन शिशिरबावा, उनकी धारणाके अनुसार जो श्यामपंथी वैष्णव हैं, उनको भेजते रहते हैं और मुझे ये कहते हैं कि जिज्ञासाभाव से केवल जानना चाहते है शास्त्रार्थ करना नहीं. वे तथाकथित 'श्यामपंथी' मुझे फारवर्ड करते हैं. जवाब देनेको उसपर मैने कहा कि शास्त्रार्थ करना हो तो तुलसीसे पहले भलीभांति शास्त्रका अध्ययन कर लो. क्योंकि शुद्ध जिज्ञासाभाव

हो तो सोशियल मीडिया पर ऐसी क्लिप क्यों पोस्ट करते हो. मुझसे क्यों नहीं पूछ लेते? मै न तो शास्त्रार्थमें कोई बुरी बात मानता हूं और न जिज्ञासा प्रकट करनेमें. पर शास्त्रार्थ करनेवाला शास्त्रका अध्ययन किये बिना करना चाहे तो कैसे संभव है. उसका सुझाव देनेपर मिर्ची लगती हो और फिर कहे कि शास्त्रार्थ नहीं केवल जिज्ञासा कर रहा हूं. तो फिर जिज्ञासासे जानकारी हासिल करनी हो उसके समक्ष जिज्ञासा प्रकट करनी कि जिनको अज्ञानी श्यामपंथी मानकर उलूल जूलूल बाते पोस्ट करते हों उनके सामने वकालत पेश करने! इस कपट नाटक का प्रयोजन क्या? जहां तक जामनगरी हरिरायजीसे दुबारा शास्त्रचर्चाकी चेलेंजका सवाल है तो चर्चासभामें जो पक्षग्रहण उन्होंने किया था वह मुझे मान्य है विवाद ही नहीं, चर्चाका प्रश्न कहां से उठ सकता है? अब शाखाचंक्रमण करके गृहीत पक्षको वे छोडना चाहते हों तो नया मुद्दा विवादका उपस्थित होगा. इस पक्षको भी छोड़ कर पुनः शाखाचंक्रमण नहीं करेंगे इसकी गेरेंटी क्या? उनकी प्रकाशित सभी युक्तियोंका समाधान चार विशोधनिकाओं में दिया ही जा चुका है. वह समझ पानेकी ही क्षमता हरिरायजीमे नहीं है, या उत्तर प्रदान करनेकी क्षमता नहीं; इसका खुलासा भी तो करना पडेगा. जहां तक मेरे अमृतनुं आचमन, नवरत्न तथा आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली ग्रन्थोंमें मेरे वचन उद्धृत कर विरोधाभास दिखानेकी कुचेष्टा की है. उस बारेमें अधिक कुछ कथनीय नहीं है. वह श्रीनाथजीके स्वरूपको, क्योंकि, जैसे महाप्रभुजीने जगन्नाथजी पाण्डुरंग श्रीरंग तिरुपति में प्रचलित पूजाप्रवाहकी प्रणालीके अनुसार पधराये थे. सो उस कल्पको लेकर तो आज भी मैं यह स्वीकारने तैयार ही हूं कि प्रसाद लिया जा सकता है. परन्तु इसे न मान कर यदि पुष्टिमार्गीय प्रणाली वहां अनुसरी जा रही है, ऐसा दावा कोई खुदके व्यावसायिक हवेलियोंवाली भगवत्सेवा-प्रणालीकी वकालत करनेको चाहता हो तो, तब तो देवद्रव्यके पातित्यकारी उपभोगवश देवलकताका आरोप लगाया ही जा सकेगा.

और उसका जो बुरा लगता हो तो मेरे विधानोंमें वदतोव्याघात खोजनेके बजाय खुदकी महाप्रभुके सिद्धान्तोंके प्रति निष्ठाव्याघात पहले खोजो मेरे भाईओ!

shishir Bawa: १. श्रीमहाप्रभुजीके स्वरूप (मूर्ती) की आचार्य रूप से सेवाका कोई प्रकार शास्त्रमें अथवा स्वमार्गीय ग्रंथोमें कहीं हो तो कृपया बताएं, जैसे प्रभुमंदिरका विरोध करते हैं ऐसे गुरुमंदिर का क्यों नहीं करते?

२. आचार्य स्वरूपका मंदिर है, तो जरूर अचार्यमूर्तिको प्रतिष्ठित किया होगा, बिना संस्कारके मूर्तिकी सेवा तो हो नहीं सकेगी, गुरुमूर्तिको पुष्ट (प्रतिष्ठित) करने का प्रकार बताएं?

३. यदि गुरुमंदिर बनाया जा सकता है तो प्रमाण बताएं?

४. जैसे कहा जाता है की श्रीमहाप्रभुजीने कभी मंदिर नहीं खोले और न मंदिरका उपदेश किया, वैसे ही गुरुमंदिरका उपदेश कहां किया, यह बताएं?

Gopal Gaud: ये प्रश्न शिशिर बाबाने पूछे हैं, कोई वैष्णव पूछने नहीं गया था. (हैदराबाद) वेणुगोपालको पूछे थे. तब वेणुगोपालने कहा कि इनका उत्तर मैं नहीं दे सकता, बड़ोसे पूछना पड़ेगा, यहीं से चर्चाकी शुरुआत हुई थी.

Shyambawa (kishangarh,parle): जवाब तो आपकी ऐसी आपत्तियों का दे चुका हूं. जिनका कोई जवाब सूझता नहीं तो और विचार किये बिना मेरे नित्यलीलास्थित बड़ो के बारेमें यद्वा तद्वा प्रलाप करने लग जाते हो. उन्हें जलील करनेकी अद्भुत शालीनता (!?)के साथ. बड़ोंके दोष नहीं देखनेकी बातपर आपके पिता श्रीकृष्णकुमारजी

के संयुक्त-घोषणा पत्रका उल्लेखमात्र कि उनके हस्ताक्षर हैं. क्या उसमें कबूले सिद्धान्तके अनुसार हैदराबादकी हवेली खोली थी? तो छोड़ी क्यों? और यदि नहीं तो खोली क्यों? क्या वे सिद्धान्त को जानते थे पर मानते नहीं थे, ऐसा दोगला चरित्र था? जैसा विरोधाभास मेरे पिता पर कथंचित सिद्ध करनेकी कुटिलता जता रहे हो, ऐसी बड़ी शालीनताके दिखावेके छोडकर निरन्तर चालू रखना चाहते हो. वैसे तो उसकाभी समाधान मैंने दिया. बेझिझक बुरा माने बिना ही दिया था. तो वो आक्षेप खुदकी क्षुद्र दुर्मतिसे मेरेपर थोपने लग गये. मैंने हिंट भी दी जो उनसे गलती हो गयी, जैसे या तो संयुक्त-घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करनेकी या कांदीवली वैष्णवोंके लिये दर्शन-भेटवाली निजहस्ताक्षरित संयुक्तघोषणापत्रसे विरुद्ध तथाकथित गुरुगृहरूप हवेली चलानेकी आपके पिताने की, ये दोनों बातें भी एक साथ तो सच हो नहीं सकती. सो आप श्रीकृष्णकुमारजी को खुदके जैसा बेवकूफ मान रहे हो या खुद को अधिक जानकार? जवाब दो जानूं. उसे भ्रामक ग़लत उपयोग बता दिया. मैंने कहा संयुक्त-घोषणा-पत्र तो जनता और कोर्ट में पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों की घोषणा सबने मिलकर करनेको ही की थी. क्या इसका भान उनको नहीं था? आप अपने पिताको खुदके जैसा बेवकुफ मान रहे हो या बादमें कृष्णकुमारजीको जैसे मेरे पिताने निश्छल भावसे अखबार में कबूल कर ली थी ऐसे कहीं कबूल की थी क्या? यदि की हो तो इस कबूलातपर संप्रदायके अप्रतीम विद्वान मेरे पिताके बारेमें आपके जैसे अनर्गल प्रलाप मैं करूं क्या कृष्णकुमारजी के बारे में? मैंने यह भी कहना चाहा कि मेरे पिता ने ऐसी गलती क्यों करी कि उन्हे अखबार में कबूलात करनी पड़ी इसका समाधान मुझसे मागते हो तो कृष्णकुमारजीका समाधान मैं मांगूंगा तो मिर्ची लगेगी आपको. मैंने यह भी....

Shyambawa: १. प्रतिष्ठा का शस्त्रोक्त प्रमाण:-

पञ्चरात्रमें आचार्यके, गुरुके और मूर्तिकी प्रतिष्ठाका प्रकार बताया गया है. और इसीलिये रामानुज सम्प्रदायमें, शांकर सम्प्रदायमें, माध्व सम्प्रदायमें मध्वाचार्यजी की मूर्ति बिराजती है, और पूजा भी होती है.

२. महाप्रभुजीकी बैठक आचार्यके मन्दिर नही है तो और क्या है? "श्रुतिरहस्य" में बैठकरूपसे महाप्रभुजी बिराजते हैं, यह कहा ही गया है.

३. हर मन्दिरमें श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजी, मालाजी और हस्ताक्षर की सेवा होती है कि नहीं होती है.? फिरतो केवल प्रकारका ही भेद रहा और आचार्यजीके चित्रजीकी सेवा होती है कि नही होती है?

४. प्रतिष्ठित करने का प्रकार तो वही होगा जैसे पुरुषोत्तम प्रतिष्ठा प्रकार में जो बताया है, वहां ठाकुरजी के प्राकट्यके श्लोक बतायें है, एसे जहां श्रीमहाप्रभुजी के प्राकट्यके श्लोक बतायें हैं उन श्लोको को बोलकर प्रतिष्ठा हो सकती है.

५. कितनी ही जगह श्रीमहाप्रभुजीने अपने हस्ताक्षर और पादुकाजी सेवामें पधराये हैं. वार्तामें आता है कि आप जब लीलामें पधारगये, और वैष्णव दुखी हुए तो उनको दर्शन कराये हैं.

६. अब पढे होते तो पता चलता, अनपढ है तो अपन क्या करें? श्रीमहाप्रभुजी जहां कृष्णसेवा की बात बता रहे हैं, **"निरालम्बो यथा लोके स्थानभृष्टो निगद्यते. हरेः कृपाविशिष्टोऽपि गुरुहीनस्तथैव हि. यथा भक्ति स्वतन्त्रोक्ता गुरुसेवापि तादृशी. जिज्ञासाशेषभावत्वं तथापि विनिगद्यते.** (सुबो. ११/३/२८-२९) **"कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादि रहितं**

नरं श्रीभागवत्तत्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्'' (त.दी.नि.२.१) वहां भागवत्तत्त्वज्ञं गुरुम् आदरात् जिज्ञासु भजेत्. वो श्रीमहाप्रभुजीके भजनका विधान है. वो मन्दिरमें करो या घरमें करो उससे क्या फरक पड़ता है? पढो तो समझ पड़े, बिना पढे तो कुछभी सवाल पैदा हो जायेगा. जिज्ञासुताके लिए तो इतने प्रमाण है, बाकीके लिए तो कुछ भी नहीं है.

Shishirbawa: प्रश्न पुछनेवाले अनपढ़ ही लगे जब उचित उत्तर नहीं होवे तब. ठीक है मैं अनपढ़ सही तो फिर याको मतलब बताओ ''ध्येयं नतु सेव्यं सौन्दर्यपद्यं'' की व्याख्या पुष्टिविधानं भाग ३, पृष्ट १४ एवं १८ मननीय हैं-

> **टीका:** **''बर्हापीडं नटवरवपुः...''** श्लोकमें भगवान्को जेसो प्रमेयरूप निरूपित कियो ताके प्रमाणरूप (साक्षिरूप) स्वयमेव महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण हें. सो या श्लोकमें महाप्रभुके एसे स्वरूपको वर्णन श्रीगोपीनाथप्रभुचरणने कियो हे. सो काहेतें जो प्रमाणके बिना प्रमेय सिद्ध होत नाहिं. तेसें महाप्रभु यदि प्रकट न होवते तो पुष्टिभक्तिभावको अवलम्बन बनिवेवारे श्रीकृष्णको एसो गूढ़ सौन्दर्यहु पुष्टिजीवन्के काज प्रकट न होतो.
>
> कछुक पाखंडी जीव या श्लोकमें वर्णित महाप्रभुजी त्रितयात्मकताके व्याजतें श्रीकृष्णकी अनन्यभक्तिके महाप्रभून्के उपदेशसों अपनो प्रच्छन्न द्वेष प्रकट करि देत हें: जो श्रीकृष्णको मूलरूप तो एकात्मक हे अरु त्रितयात्मक होयवेते भजनार्थ उत्कृष्टतर स्वरूप तो श्रीमहाप्रभुन्को हे. सो एसे श्रीमहाप्रभून्के प्रच्छन्न द्वेषी जनन्के पाखण्डको

> खण्डन याही श्लोकतें ह्वे जात हे जो त्रितयात्मक रूप तो केवल ध्यान करिवेके काज हे सेवाके काज नाहिं!...**टीका:** या श्लोकतें श्रीरघुनाथजीने श्रीगुसांईजीके आचार्यभावोचित स्वरूपकोंही ध्यानात्मक वन्दन कियो हे, जेसें **''सौन्दर्यं...''** पद्यमें श्रीगोपीनाथजीने श्रीमहाप्रभून्के गूढ़ रसमयभावात्मक परि प्रकट साक्षिभावात्मक आचार्यभावोचित रूपकोही ध्यान बतायो तेसें.
>
> तासों जेसे गूढ़ पुंभावात्मिका श्रीस्वामिनीजी अरु गूढ़ स्त्रीभावात्मक श्रीप्रभून्के स्वरूपन्में कछु भेद नाहिं तोउ श्रीस्वामिनीजीकों केवल तनिया धराके कोउ दर्शन खोलत नाहिं अरु श्रीठाकुरजीकेहु लहेंगा धोती अरु सारी में दर्शन होत नाहिं तेसेई श्रीमहाप्रभु तथा श्रीप्रभुचरण में गूढ़ पुरुषोत्तमभावको प्रकट करिके भक्तिरीतिमें रसाभास करिवेवारी बैठकजीन्में गेंद-छड़ी-चोपर धरिके प्रदर्शन करिवोहु उचित नाहिं. आचार्यभावतें जब आप दोउ प्रकट हें तब आचार्यभावोचित वस्त्र आभूषण साज सेवा ही उचित हे. तातें तुलसीकी कंठी तिलक, गोमुखी, सन्ध्याको साज, श्रीमद्भागवत्की पोथी, धोती-उपरणाके वस्त्राभूषण अरु साजकोही आचार्यभावोचित जाननों॥११॥

एसे गोस्वामी श्रीदीक्षितात्मज श्याम मनोहर द्वारा विरचित मंगलाचरणकी व्याख्या सम्पूर्ण भई.

... जामें आचार्यजीको ध्यान करवेकी आज्ञा कर रहे हैं सेवा की ना कह रहे हैं. बैठकजीको प्रकार मतलब गुरु स्थानकी सेवा जो मनुस्मृतिमें है, गुरुगीतामें भी है गुरुपादुकाकी सेवा अपने यहां

स्वतंत्र नहीं है, प्रभुसेवाके संग है. श्रीमहाप्रभुजीके प्राकट्य के कौनसे श्लोक हैं, प्रभु प्राकट्यके हैं वैसे? और पञ्चरात्र भी यह अनपढ़ देख रह्यो है, सो आप अनपढ़कु बता दो के कहां गुरुस्वरूपकु प्रतिष्ठित करवे को प्रकार है, तो विशेष कृपा होयगी. पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार में 'श्री मूर्ति' कु तद्वत पुष्ट करवेकी आज्ञा हैं, गुरुमूर्तिकी आज्ञा नहीं है, और श्रीमहाप्रभुजीके प्राकट्यके प्रभुवत् कौनसे श्लोक हैं वह आज्ञा करें.

Gopal Gaud: जिस पुष्टिविधानम्-३ का प्रमाण दे रहे हैं, उसके समापन में लिखा है- "एसे गोस्वामी श्रीदीक्षितात्मज श्याम मनोहर द्वारा विरचित मंगलाचरणकी व्याख्या सम्पूर्ण भई". साधारण वैष्णवके समझमें आनेवाली बात है कि जो वल्लभपंथ जैसे पंथ चलाकर यह कहते है कि श्रीआचार्यचरणके विग्रहमें कोटिगोवर्धननाथ, अतएव ठाकुरजीकी सेवा छोड़कर महाप्रभूजीकी सेवा करो. एसे पाखण्डियोंके लिए उक्त बात कही जा रही है. कमसे कम अर्थ का अनर्थ तो मत करो. मंगलाचरणका विधान तो पाठके समय का है, जिसमें यमुनाजी-महाप्रभूजीकी कृपासे सेवोचित भाव हृदयमें उभरें. इतनी साधारण बात समझ में नहीं आती तो बाकी क्या आयेगी? क्या चित्रजीकी सेवा, हस्ताक्षरजीकी सेवा, बैठकोंमें होती सेवा स्वतंत्र नहीं है?

Shyambawa: "कृष्णसेवा परं वीक्ष्य दम्भादि रहितं नरं श्रीभागवत् तत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्" वहां भागवततत्त्वज्ञं गुरुम् आदराद् जिज्ञासु भजेत् का क्या हुआ?

पश्चाल्लेखः (आरंभमें तो गुरुसेवा स्वतंत्र ही होती है और उससे सन्तुष्ट होनेपर गुरुका कर्तव्य है कि वह शिष्यको भगवत्सेवामें और/अथवा कथा में तत्पर करें. स्वयंमेही न उलझाये रखे.) जो 'गुरुस्थान' की सेवा कह कर बैठकजी का प्रकारका हास्यास्पद व्याख्यान

शिशिरबावा कर रहे हैं, यदि केवल वहां स्थानकी सेवा होती हो तो वहां भोग धरके और जारी भरनेका प्रकार स्थानके बाहर द्वारपर होना चाहिये स्थानके भीतर चोकी पर बैठकजीको नहीं. श्रुतिरहस्यकार गिरिधरजीने आचार्यके सप्तविध स्वरूपको मान्य किया हैं.

Shishirbawa: मतलब प्रभुसे स्वतंत्र सेवा श्रीमहाप्रभुजीकी हो तो कोई अपसिद्धान्त नहीं है आपके विचारसे. "गुरुम् आदरात् जिज्ञासु भजेत्" का अर्थ प्रभुसे स्वतंत्र सेवा माना जाएगा या आदरपूर्वक केवल भजन, सेवन नहीं? और हां श्रीयमुनाजी और श्रीमहाप्रभुजी का भजन विनकी कृपासे प्रभुप्रीतिके लिए ही किया जाता है, स्वतंत्रतया उनकी भक्तिके लिए नहीं. तब तो चौबे की तरह यमुना मैया करके भाई दूजके स्नानको पुष्टिमार्गीय मानने में क्या आपत्ति है, यदि स्वतंत्र सेवा यमुनाजी की होती हो तो. पहले यह स्पष्ट करिये कि पुष्टिमार्गमें केवल प्रभु ही सेव्य है, या बिना विशेष भावके दान (जैसे महावन की क्षत्राणी आदि वैष्णवों को हुआ वैसा) भी गुरुसेवा स्वतंत्र रूपसे प्रभुसेवा समान फलदायी मानते हैं? मतलब प्रभुसे स्वतंत्र सेवा श्रीमहाप्रभुजीकी हो तो कोई अपसिद्धान्त नहीं है आपके विचार से? मंगलाचरणका शास्त्रीय सिद्धान्त है, जैसा विषय होता है तदनुकूल मंगलाचरण किया जाता है, श्रीयमुनाजी और श्रीमहाप्रभुजीके नामसे मंगलाचरण सेवोचितभावके लिए है यह हम भी मानते हैं, पर इसका मतलब यमुनाजी या श्रीमहाप्रभुजी का मंदिर खोलकर स्वतंत्र सेवा कैसा होगा यह आप सिद्ध नहीं कर सके.

Gopal Gaud: हमने यमुनाजीकी स्वतंत्र सेवा या मन्दिर खोलनेका जिक्र तक नहीं किया. श्रीमहाप्रभुजीकी सेवा का शास्त्रीय प्रमाण दिया जा चुका है. पुनः निवेदन है कि शुद्धभावसे जिज्ञासा करनी हो तो सीधे बात करने में क्या हरकत है?

इसके बाद कोई जवाब नहीं आया.

Tulsi shastri: सदैन्य प्रणाम "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" उपरोक्त प्रमाण अकाट्य हैं प्रमाणपुरस्सर वाणीकू प्रणाम पर कुछ मोकू भी जिज्ञासा हती जो इन प्रमाणन सो पूर्ण भयी, आप्त-वाक्यं प्रमाणम्.

Shyambawa: उपर्युक्त पंक्ति इनके विद्यागुरुको अभिप्राय.

द्रष्टव्य: कलौ गुरूणां भजनं (गुरुतया योग्योपचारैः नतु अन्यथा) ईशभक्त्यधिकं. (सत्सिद्धान्तमार्तण्ड प्रश्न २१) गुरोः अनिष्टाचरणं गुरोः इष्टविवर्जनं गुरोश्च सेवाऽकरणं ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् (तत्रैव).

Shishirbawa: यह सब उपस्थित प्रमाणोंका, सूतकनिवृत्ति भये पीछे ही खुलासा कर सकूंगा, सो समय लग सकता है, और साथ ही यह कहूंगा की किसीको भी देवलक कहनेकी वृत्ति पालने के पहले सेवासाहित्यविक्रय करनेवालेको किस कोटिमें मानते हैं यह भी निश्चय कर लेना चाहिए. प्रश्न पूछनेवालेको चतुराई छांटनेवाला और बेवकुफ कहने की परंपरा सन् १९९२ से ही चल रही है, अब तो इसका कोई असर भी होता नहीं दिख रहा बल्कि चतुराईपूर्वक बैठकजीकी बातको बीचमें घुसा देनेकी साज़िश ही लगती है.

Shyambawa: स्वतन्त्र आचार्यसेवाका प्रमाण पूछा था कोटा के बड़े महाप्रभुजीके मन्दिरके अलावा बैठकजीकी बात कही शास्त्रीय वचनोंके साथ साथ इसे चतुराई मानना तो ठीक ही है परंतु "बीचमें घुसा देने की साज़िश" कहना तो खुदकी मूढ़ताका प्रदर्शन ही है. सेवासाहित्यके विक्रयकी तो बात छोड़ो आज तक मेरा कोईभी प्रकाशित साहित्य निःशुल्क वितरणार्थ ही श्रीमहाप्रभुजीकी कृपासे होता चला आ रहा है. स्वयं मेरे प्रवचनोंकी cd/vd न तो मैं वितरित करता हूं और जो वितरित करते हैं उन्हें लागत मूल्य से अधिक न लेनेका मेरे स्पष्ट निर्देश हैं. और इस लेन-देन का मेरे साथ कोई सरोकार नहीं है.

वैसे पठित होते तो एसी बेतुकी बात खोपड़ीमें उभरती ही नहीं. क्योंकि इसका खुलासा तो पुरुषोत्तमजीने पुष्टिप्रवाहमर्यादा और स्ववृत्तिवाद में पहले दे रखा है.

अतः विक्रय करता भी तो दोषजनक न होता. घरमें बिराजमान प्रभु की भावप्रतिष्ठा परार्थ नहीं होती. वह होती तो देवालयके पुजारी तीर्थोंके और कर्मों के पंडो या पुरोहितों की तरह हम आचार्यवंशजोंके वर्णापसद अशुद्ध देवलक होनेका आक्षेप भी लग नहीं पाता.

गुरुत्व तो परार्थ ही होता देवालय या धर्मशाला की तरह. अपने गृहमें बिराजमान प्रभुको परार्थ मानना तो अपनी विवाहिता पत्नी को परार्थ वेश्यावृत्ति करती मानने से भी अधिक अपवित्र कथा है. देवलकोंमे भगवान् जाने कब ऐसा आत्मसंमान जाग पायेगा! सन् १९९२वें से भी पहले वल्लभवंशज गोस्वामियोंके संयुक्तघोषणा पत्रमें प्रश्न पूछनेवालेके पितृचरण श्रीकृष्णकुमारजी रमणलालजी संयुक्त हस्ताक्षरसे चली थी सो जिस पुत्र-रत्नपर खुद अपने पिताके घोषित मतकी असर न होती हो उसकी दुर्मतिकी कथा तो और अधिक करनी उचित नहीं.

Shishirbawa: बाकी चर्चा समय पर करूंगा, इन प्रमाणोंके अध्ययन करके अगर इतना ही अपठित हूं तो मुझे जवाब क्यूं देना. विद्वान तो खुद के बराबरवालोंको जवाब देते हैं. पठित होकर अपठित के प्रश्नकी इतनी चिंता क्यों करनी...इतनी चिंता ही स्पष्ट दिखाती है कि नींव हिल गयी है. आशौचनिवृत्ति पश्चात विस्तारपूर्वक उत्तर दूंगा. अपठितकी जिज्ञासाका कोई मतलब ही नहीं होता और न ही आक्षेप लगानेकी कोई हैसियत, विद्वान कबसे घबराने लगे अपठितकी बातोंपर. हमारे नित्यलीलास्थ पितृचरणको इसमें घसीटनेका कोई औचित्य नहीं था परंतु अब ले ही लिया है तो क्षमा मांगते हुए कह

रहा हूं हालांकि बडोंसे अविवेक करना हमारे घरकी रीत नहीं है पर यह भी बताइए के खुदके पिता आजीवन ट्रस्टके मन्दिरमें बिराजे (जिस ट्रस्ट की स्थापना भी सन् १९५० के लगभग पूज्यश्रीने ही अपने ज्येष्ठ भ्राताके साथ करि थी) अब पिताके मत (ट्रस्ट की स्थापना) की असर क्यों बेअसर हुई? और उस मंदिरको त्यागनेके इतने वर्ष बाद वहींपर सेवाके वाराका दावा करना अपने ही घोषित सिद्धान्तमतको निजी कारणोंसे ताकपर रख देना सुमति मानी जाए या.... ????? मुझे किसीके निजी विवादमें कोई रुचि नहीं है, पर हमारे पितृचरणके नामसे मन कुछ दुखी हो गया... बड़े मुझे क्षमा करें. वापस विनती है कि इसमें बड़ोंके नामको न लेना ही बेहतर है, अविवेक करना बहुत आसान है पर विवेकपूर्ण समाधान बहुत ही मुश्किल, इसलिए कृपया विवेकपूर्ण समाधान करें, हमें अपने आपको विद्वान सिद्ध करने में कोई रुचि नहीं है. हम अपठित रहनेमें ही ठीक हैं. मुझे विवेकपूर्ण समाधान चाहिए, यह अविवेक आपको मुबारक.

Venuji: जै जै चर्चा तो पहले इन्होने ही शुरु की थी. मैंने इनके नम्बर मांगे थे सो अभी तक मिले नहीं. कहते भी जा रहे हैं और कहते हैं 'अभी नहीं बाद में जवाब दूंगा'.

Shyambawa: अपठित अहम्मन्य व्यक्ति यदि अपनी मूढतापूर्ण धारणाओंको प्रकटकर औरोंको बरगलाता हो तो, और मच्छर भी, शान्तिसे सोनेके समय कानोंके आसपास भिनभिनाता हो तो quit all या fleet छांट कर भगाना पड़ता है. अब मच्छर अपनी मूढतापूर्ण अहम्मन्यताके कारण मियां गिर गये फिर भी टंगड़ी ऊंची रख कर पूछे कि तब "तो मेरे भिनभिनानेकी चिन्ता क्यों? इतनी चिन्ता स्पष्ट करती है कि नींव हिल गयी" तो कानोंके आसपास मंडराता न हो तो एक मच्छरके प्रति इंसानको न राग होता है न द्वेष

ही. अपठित व्यक्ति अपनी मूढ़तापूर्ण धारणाओंके अनुसार जीना चाहता हो वैसा जीनेका उसका अपना शोख आपत्तिजनक नहीं होता पर औरोंको संप्रदायके सिद्धान्त और परंपरा की दुहाई दे कर बरगलाता हो तो जो सच्चे सिद्धान्त और परंपरा की रक्षा करना अनिवार्य कर्तव्य बन जाता है. इसलिए खुदके अज्ञानका इतना नग्न प्रदर्शन मत करो. बात तो पते की कही पर कारण जो समझाया है उसे अपनी क्षुद्रताको समझनेकी कोशिश करो. आपके नि.ली. पितृचरणको हम नहीं घसीट रहे हैं वे खुद आपको घसीट कर धोबी पछाड़ लगा रहे हैं उसकी छटपटाहट प्रकट होती आपके खुलासामें दीख रही है. उसमें किसी दूसरे का क्या कसूर.

यह रहे आपके पितृचरणके अमृतवचन यहां मैं उद्धृत कर रहा हूं:-

> "नि.ली.गो. श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन) ...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्ट शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक वनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढ़ाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यह निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमामर्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजन है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मन्दिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा

पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ...सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. "बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु".

(गो. श्रीकृष्णकुमारजी की हस्ताक्षरित सम्मतिसे सुप्रीमकोर्टमें प्रस्तुत करनेकेलिये तैयार किया गया "श्रीमद्वल्लभाचार्य वंशज गोस्वामीओंका संयुक्त घोषणापत्र" १९८६.)

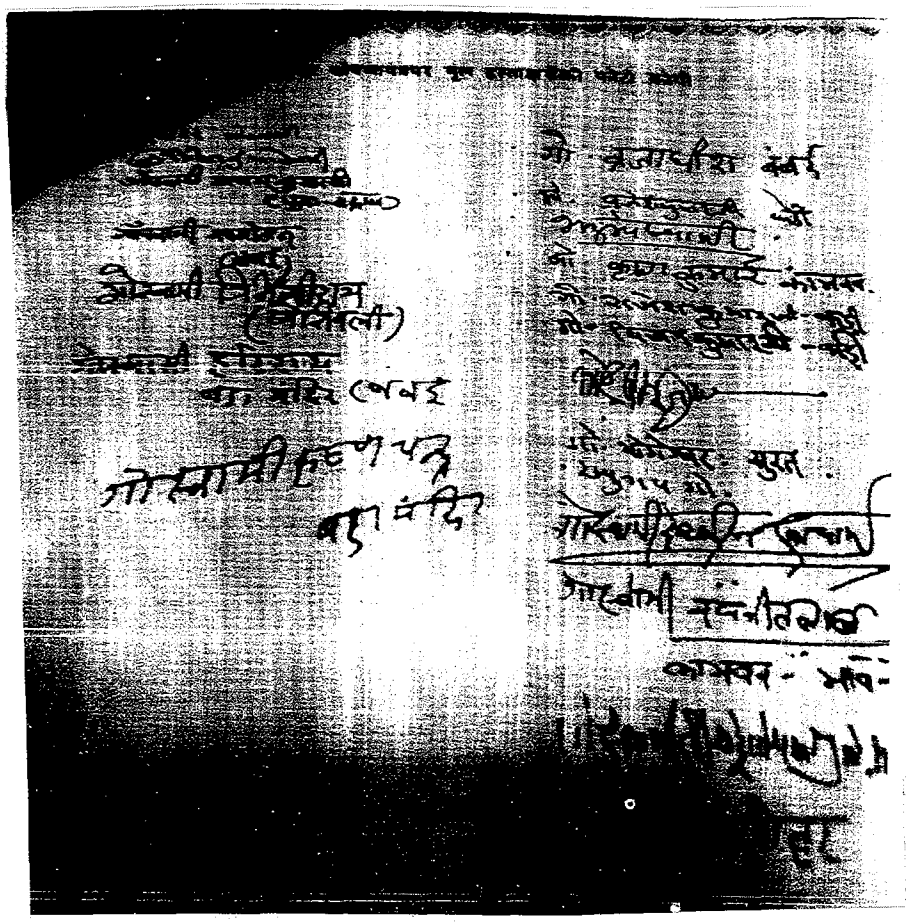

Back of 171
Page no not to be printed

हमारे पितृचरणने जिस ट्रस्टकी स्थापना की थी वह उनकी बहुत बड़ी भूल थी ऐसा उन्होंने खुद 'मुंबई समाचार' अखबार में पूरे ३ पेज भरकर तीन लेखोंमे प्रकाशित किया था. अपठित बावाको इसकी जानकारी नहीं होगी इसलिए बकवास करते हों तो यह जानकारी देना कर्तव्य बन जाता है, पितृचरणके पुत्र और शिष्य होनेके कारण. उस अपसिद्धान्तवाले सेवाप्रकारमें वारा लेनेके लिए नहीं पर पितृचरणकी सिद्धान्तनिष्ठाके विपरीत उनके नामका दुरुपयोग करनेवालेको रोकने भरका दावा है. अन्यथा दावा किये बिना भी वह हक़ तो संयुक्त परिवारके हर एक सदस्यको स्वतः प्राप्त ही है. अपने सेव्य स्वरूपको आजीविकाका साधन बनानेवालोंको अपनी मंदमतिके कारण इतनी स्थूल बातें भी समझमें न आती हों यही तो समझनेकी बात है.

सबसे पहले हमारे पितृचरणके आशीर्वचन लेखपर प्रश्न खुद ने उठाया तब हमको ऐसी विनती करनेकी जरूरत नहीं पड़ी थी क्योंकि हम जो कुछ कहतें है बड़ोंको जो मान्य था उस ठोस नींवपर खड़े हो कर कहते हैं. (पश्चाल्लेख : पितृवचन हों या पितामहवचन हों श्रीमहाप्रभुपदिष्ट सिद्धान्तानुसारी हों तभी मान्य होते है नकि विपरीत. इसलिये ट्रस्ट के वचन हमें अमान्य हैं) अपठितोंकी तरह समझे - बूझे बिना अनर्गल प्रलाप नहीं करते. खुद करते हैं इसीलिए तो बड़ों की बात बोलते ही मिमियाने लग गये. बकवास करनेवाले खुद को नि.ली.श्रीकृष्णकुमारसे अधिक जानकर मानते हैं या उनको खुद से अधिक मूर्ख, अब तो समाधान देना ही पड़ेगा.

वो गन्दगी जिसमें भगवत्सेवाभक्तिको और भगवत्कथा खुदकी आजीविका बनाने की गन्दगी पैदा होती है जिसमें आपके जैसे मच्छर की तरह भिनभिनानेवाले पैदा होते हैं वह तो स्वयं महाप्रभुजीने "जलार्थमेव गर्तास्तु नीचाः" वचनमें प्रकट कर ही रखा है. सो कोई प्रकटमें कहे या गुप्ततया कहे फर्क कुछ पड़ता नहीं है. हां बुरे लगने

की बात भी समझमें आती है क्योंकि गन्दगी साफ हो जाय तो मच्छरोंका भविष्य खतरेमें पड़ जाता है. उपदिष्ट आज्ञाओंके पालन कर पाने या पालन न कर पानेमें लाचारी समझी जा सकती है जैसे नि.ली.श्रीकृष्णकुमारजीसे पालन न हो पाती थी तब भी ब्राह्मणकुलोचित साहस रखते हुवे संयुक्तघोषणापत्रपर निःसंकोच हस्ताक्षर करनेके साहस (यदि संशय हो तो फोटो भी भेजा जा सकता है) का प्रमाण है. इस ऐतिहासिक तथ्यके उल्लेखमात्र करनेसे इतना उत्तेजित हो जाना कि "बड़ोंकी निन्दा करनेकी संस्कृति नहीं" कह कर निंदापे आमादा होनेका शुद्ध पाखंड खुदकी कमजोरी को जानते होनेपर भी मूल सिद्धान्तके प्रमुख मुद्दे से चर्चाकी दिशा बदलनेकी मूढ़ता है. अपने पितृचरणकी तरह मान्य है या अमान्य है उस चर्चाको किसने कब पाली या न पाली, की चर्चा करके बातें बात बरगलाना ही दूषित मनोवृत्ति को उघाडी पाड़ देता है. हम न तो ऐसे गन्दगीमें जीनेवाले मच्छरों के पास जाना चाहते हैं और न उन्हें अपने पास बुलाना चाहते हैं और न हमारे पास जो वैष्णव आते हों उन्हें देवलकताकी गन्दगीमें जीना चाहते मच्छरोंके पास जानेसे रोकनाटोकना चाहते हैं. हम तो महाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तको घोषित करना चाहते हैं. हमसे भी या किसी हमारे बन्धुवर्गसे भी आचरणमें पल पाते हों या नहीं. क्योंकि पल पाते हों, हमसे या अन्य किसीसे, उसे अपनी श्रेष्ठता नहीं मानते भगवत्कृपा ही मानते हैं. और न पल पातें हों तो खुदका या दुसरेका दुर्भाग्य मानते हैं. हां पर खुद से न पल पानेकी लाचारीको छुपानेको आंख-मिचौली खेलना चाहते हों उसे दुर्मति मान कर खुलासा देना एसा कर्तव्य मानते हैं कि इसमें चूक होना नमकहराम होना मानते हैं.

आपके नि.ली.पितृचरणने संयुक्त घोषणा-पत्रपर हस्ताक्षर सार्वजनिक रूपेण घोषित करनेको दिया था उसे छुपाने या चर्चामें न लाना ग़लत उपयोग क्यों लगता है? आपके पेटपे लात लगती होनेका

भ्रम लगता हो तो खुलासा देना आपकी जिम्मेदारी है कि आप अपने पिताको खुदकी तुलनामें बेवकूफ मानते हो या समझदार. मुझे मेरे पितृचरणने जब वहां रह रहे थे तब भी यही समझाया था कि अब यहां इस व्यवस्थापर निभाना आत्मपात है. स्थान तो पैतृक संपत्ति थी, सो रहते थे परन्तु खर्च स्वयं अपनी चरणभेंटसे ही चलाते थे. ट्रस्टमन्दिरकी आमदनीसे नहीं एक बार कुछ मैंने दिलानेको अज्ञानवश मांगा तो कहा कि लोहेकी कील लेना भी पाप है. सो हम तो बड़े जो कह गये उसे पालनेमें विश्वास रखते हैं जो करते थे उसके अंधानुकरणमें नहीं. दाउजी मदिरा पान करते थे उसके अनुकरणमें नही मानते. दाऊजीके धर्मोपदेशमें ही मानते हैं. उन्होंने क्यों नहीं छोड़ा ये उनसे पूछनेका न तो तोछड़ापन ही हमें आवश्यक लगता है, और न उनसे पूछने गोलोक जाना चाहते हैं. हम तो ये भी नहीं चाहते उनसे पूछने जानेका दुःसाहस कभी आपको करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेपर देवलकताकी गन्दगी में जो आपके सहजीवी है, वो रखड़ जायेंगे. क्योंकि लौट पाना फिर आपके बसमें नहीं रह जायेगा. अपठित कहनेका अभिप्राय भी हमारा तो शुद्ध ही है कि यदि खुदसे बड़ा मानते हो तो आपके ताज्झीकी उम्रका हूं ही, इसे बड़ोका हितोपदेश मान कर यहां के वहां के आक्षेपप्रत्याक्षेपमें समय बर्बाद करनेके बजाय व्यवस्थित रूपमें स्वमार्गीय ग्रन्थोंका अध्ययन करो. कभी हैदराबाद तो कभी कभी दूसरी जगहके वैष्णवोंके सामने ऐसे बचकाने सवाल कर करके अपठितता उघाड़ी पाड़नेके बजाय. अनधिकारचेष्टा करनेसे लाभके बजाय हानि अधिक होती है. वैसे जहां तक स्वमार्गीय सिद्धान्त जिज्ञासाका सवाल है. अपने संबंधों या वयोवस्था के वश न कोई ज्येष्ठ होता है और न कोई कनिष्ठ. केवल आचार्यचरण और उनके ग्रन्थोंके निष्ठाशील व्याख्याकार ही ज्येष्ठ बाकी सब समवयस्क. जो मुझे आपके अनर्गल प्रलाप वाया वाया भेज रहे थे वे मुझसे पूछ रहे थे "इतनी घटिया बात करनेवालेको गोस्वामी मान कर प्रणाम करने को दिल नहीं मानता. क्योंकि शुद्ध

जिज्ञासाभाव हो तो खुद क्यों पूछ कर समाधान नहीं जान लेते? और पीठ पीछे निन्दाक्षेपका भाव हो तो हमको क्यों माध्यम बनाते हैं." खैर जो भी आपका गेमप्लान हो, हम तो खेलने सदा तैयार थे, हैं और रहेंगे भी. फिर भी भली-भांति पढ़ कर कुछ शंका या आक्षेप भी करो तो अधिक आनंद आता है.

shishir Bawa: भगवत्सेवा और भगवत्कथा को आजीविका न हमने बनाया है और न उस गन्दगी के सहारे पैदा होनेवाले या पलनेवाले या भिनभिनानेवाले मच्छरकी तरह हम गन्दगीपर आश्रित जीवन जी रहे हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे नित्यलीलास्थ पितृचरण एवं हमने खुदने भी हमारे पितृचरणकी आज्ञानुसार स्वयं पूज्यश्रीके द्वारा स्थापित हैदराबाद हवेलीको सहर्ष त्याग दिया

shishir Bawa: (यह ब्राह्मण-कुलोचित साहस हुआ), न तो कोई दावा किया न सेवाका अधिकार मांगा, हैदराबाद हवेली तो छोड़ो हमने तो आज तक हमारी पैतृक संपत्तिपर भी दावा नहीं किया जबकी यहां तो जहांसे लोहेकी कील लेने की मनाई की बात कर रहे हैं और ट्रस्टके मंदिरमें पुष्टिपुरुषोत्तम ही नहीं बिराजते ऐसी बात प्रचारित करते हों वहींपर त्याग करनेके पश्चात् भी निजी कारणोंसे इतने वर्ष बाद सेवाके वाराको Claim किया गया है...अब यह दूषित मनोवृत्ति उघाड़ी नहीं पड़ी... अब किसको क्या पालना है यह इस बातसे स्पष्ट होता है. हमे भी इस बारे में कोई शंका या कुशंका नहीं है बस मच्छरोंने बेबस औ भाविक जानोको काटा तो आपकी तरह ही हमने दुर्मतिका खुलासा मात्र किया है. यह भी आप बड़ोंके आशीर्वादसे ही संभव हुआ.

हमने भी श्रीमहाप्रभुजी उपदिष्ट प्रकार ही पूछा था जिसपर श्रीमहाप्रभुजीके वचन या परंपरा हमे प्राप्त नहीं हुई, उसपर बैठकजी

और कोटा में श्रीमहाप्रभुजी के मन्दिर की बात बताने लगे, अरे हमारा प्रश्न वल्लभस्वरूपके लिए और उनके मन्दिरस्थापनके औचित्य के लिए था न कि बैठकजीपर. उसपर इतना आगबबूला कौन हुआ यह गत conversation देखकर ही पता चलता है, न पता चले तो मैं भी conversations के फोटो भेज सकता हूं. हमारे पेटपर लात लगती होनेका भ्रम होता तो हम भी उटपटांग बातें कर सेवासाहित्य आदि बेचकर आजीविका चलाते ...हवेली या सेवा पर दावा छोड़ने की बेवकूफी क्यों करते... इससे सिद्ध होता है के आक्षेपप्रत्याक्षेप कौन कर रहा है. क्या इससे सहजीवीके अस्तित्वपर खतरा तो नहीं मंडरा रहा. बड़ोंने त्रिकमरायजी मन्दिरके पाठोत्सवपर आशीर्वाद पत्र भी दिया है जो अभी भी पहेली ही है... उस कहे हुएका अनुकरण या प्रशंसा क्यों नहीं हुआ. आपने पहली बार हमारे बड़े होनेकी बात कही जिसका हमें गौरव है, इसी नाते आपको साष्टांग दण्डवत प्रणाम् करना अपना सौभाग्य मानता हूं. आपश्रीकी विद्वत्ता अद्वितीय है इसमें कोई शंका नहीं. आपके हितोपदेश पढ़ते हुए ही बड़े हुए हैं और उसे ही मानते हुए अध्ययनरत हैं इसलिए समय समय पर जिज्ञासा होती है, और मैं न हैदराबाद या स्वयं मुम्बई के किसी वैष्णव के सामने ऐसे किसी विषय की कोई चर्चा करता हूं, बेचारे आपके सामने ऐसा भ्रम फैलानेवालेकी मंशा जल्दी आपके सामने उघाड़ी पड़े ऐसी शुभकामना देता हूं. मेरे लाभ की चिंतासे ज्यादा भाविक जनोंके भलेकी चिंता सताती है फिरभी बड़ोंकी गरिमाको ध्यानमें रखते हुए पूछता हूं चाहे वो ज्येष्ठ हो या कनिष्ठ... और जिसे आप अनर्गल प्रलाप कह रहे हैं और जो आप तक यह प्रश्न पूछते हुए ऐसी घटिया बात करनेवालेको गोस्वामी मानकर प्रणाम करनेको दिल नहीं मानता कह रहे हों उनके मुझे सामने से 'दण्डवत प्रणाम्' के msgs के screen shots आपको भेज सकता हूं. जिससे आपका मिथ्याभ्रम चकनाचूर हो जाएगा... साथ ही सुझाव दूंगा के घटियापन किसे कहते हैं यह भी उनको सिखाइए... शुद्ध जिज्ञासाभाव

हो तो स्वंय नहीं पूछते क्योंकि हमसे भी वही हमको प्रणाम करनेवाले ऐसे ही प्रश्न पूछते हैं... उनका शुद्ध जिज्ञासाभाव जगाइये ताकि आपसे स्वयं ही पूछे और समाधान करें... हमसे पूछने, चर्चा करने, प्रणाम करने, भिनभिनाने, निन्दाक्षेप करने या गंदगी फैलानेका व्यर्थ श्रम क्यों लेना... रही बात गेमप्लान की तो राजकोट वाली छप्पनभोग गेमका उदाहरण पहले ही देकर बता चुका हूं की ऐसे या और कोई भी उटपटांग गेम न हम खेलते हैं और न प्लान बनाते हैं, इसलिए आपके खेलनेकी तैयारी हमारे साथ तो व्यर्थ ही जाएगी... शायद कहीं और यह तैयारी काम आ जाये उसके लिए मेरी शुभकामना...

shyamBawa:बहोत बहोत बधाई! फिर हवेलीका विरोध करनेपर कमसे कम आपको मिर्ची नही लगनी चाहिए. वैसे तो कौन नहीं जानता कि आप एक और कहते हैं देवलकताकी गन्दगीमें पैदा होकर पलनेवाले मच्छर आप नहीं हैं तो मेरी बधाई.

आपके इस विधानको 'अमृतवाणी' में अबसे उल्लेख करूं तो खुदके पिता श्रीकृष्णकुमारजीके वचनोंके उल्लेखको जैसे भ्रामक ग़लत उपयोग तो नहीं मान लेंगे न? इतनी यदि आपकी निष्ठा सच्ची है तो है फिर विवाद किस मुद्देपर चल रहा? केवल यही न कि मेरे पितृचरणको आप पाखंडी सिद्ध करना चाहते हों आपकी तथाघोषित शालीनताके विपरीत. घबराओ मत. खुद मेरे पितृचरणने अपने ऐसे विधानों और लाचारियों को, जैसा कह चका हूं खुद ही ग़लत मान लेनेका ब्राह्मणकुलोचित साहस 'मुंबई समाचार' अखबार में खुलकर कबूला था. तो आपके ऐसे खुदकी बेवकूफीको उघाड़ी पाडनेवाले आक्षेपोंका मतलब क्या? वो भी तब कि जब आप सचाईसे भगवत्सेवाकथाका आजीविकार्थ उपयोगको गटरके समान अपवित्र बनानेवाली बात मान रहे और जी भी रहे हो. बड़ोंने त्रिकमरायजीके मन्दिरके पाटोत्सवपर आशिर्वाद जो दिया ऐसी बातोंका जब खुद

बड़ोंने खुदकी गलती अखबारमें फुलपेज भरके तीन किश्तोंमें मान ली उसका अनुकरण या प्रशंसा क्यों हम नहीं करते? आप यह जो पूछ रहे हो उससे ऐसा लगता है कि महाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्त को मान्य करके जीनेके बावजूद आपको पछतावा हो रहा है कि ऐसी गलती आप क्यों कर बैठे. वर्ना तो मैं अनुकरण या प्रशंसा करता होऊं तो आपका कर्तव्य मुझे टोकनेका होना चाहिए था. इसके विपरीत आप उस ग़लत विधानोंकी वकालत कर रहे हो तो "मुखमें राम बगल में छुरी यहीं भगतकी दानत बुरी" ऐसी बचकाने विधानोंके कारण अध्ययन करनेकी सलाह देता हूं तो मिर्ची लग जाती है. और सोचते हो कि मेरी नींव हिल गयी. मेरी नींव श्रीमहाप्रभुपदिष्ट सिद्धान्त हैं यदि वे हिल गये तब तो आप भी, क्योंकि अब आपने मान्य तो कर ही लिये, चरामरा कर जमींदोज हो जाओगे. राजकोटके स्वमार्गीय ग्रन्थोंके छप्पनभोगसे आप इतने तिलमिला क्यों रहे हो? क्या श्रीमहाप्रभुपदिष्ट सिद्धान्तके साथ आपको इतनी दिली नफरत है? तो उन्हें मान कर जीनेका दावा क्या झूठी ढ़ांकपिछोड़ है! यदि नहीं तो जो द्रव्यार्जनार्थ सिद्धान्तविपरीत खाद्य सामग्रीके छप्पनभोग हो रहे हैं उनके बजाय श्रीमहाप्रभुकी वाणीके छप्पनभोग होने चाहिए. क्योंकि वाणीको स्वयं सुबोधिनीकार "सा हि सर्वेषां भगवदीयत्वं संपादयति... नादब्रह्मणि (स्थापिता)" स्वयं श्रीमहाप्रभुजी को ऐसी बंसी बाजी" कहा. कमसे कम जो श्रीमहाप्रभुवंशज हो उसे तो इतना विरोधी भाव होना नहीं चाहिए

....सूचित किया ऐसा मेरे पितासे पूछने जानेको आपको नित्यलीलामें प्रवेश का सुझाव नहीं दे सकता. क्योंकि वहांसे लौट कर खुलासा दे नहीं पाओगे. कही गयी बातको समझने बुद्धि शिशिरायित जडीभूत हो तो बात समझनेमें दिक्कत तो आयेगी ही. खैर अपने 'शिशिर' नामको तनकी तरह बुद्धिपर भी सार्थक मत करो! क्या फरक पड़ता है? सवाल मैंने आपसे नहीं छेडे, सवाल आपने मेरे पिताकी निन्दा

करनेको आपको दंडवत् प्रणाम करनेवालोंसे खुदको अधिक विद्वान दिखानेको शुरु करे. मैं परन्तु आश्वस्त करना चाहता हूं जितने ग्रन्थोंका भली-भांति अध्ययन किया था, उतने नाम भी आपने पढ़ें नहीं होंगे. इतने भोंदू आप हो. यह तो पंचरात्रके बारे में, किसीसे पूछ कर "रामानुज संप्रदाय" होनेके उल्लेखसे ही सिद्ध हो गया. आपने आपके जैसे किसी बेवकूफकी सलाहसे आपने खुदकी मूर्खता उजागर कर दी. ट्रस्टको खुदकी बेवकूफीके कारण कानूनी मुद्दा मान कर किसी खुदके जैसे बेवकूफके भरमा देने कारण बकवास कर रहे हो. क्योंकि धर्मशास्त्रका अध्ययन किया हो तो ज्ञान होता न कि यह कानूनी नहीं धर्मशास्त्रीय विषय है, जिससे आपकी अक्लका बाप मोरेनको वैरभाव है. अब पढ़ो पढ़ो पढ़ो! ऐसे चर्चा विचार का बंदरपना प्रकट मत करो. परंतु एक हकीकत यह भी है कि "समझ नहीं आता" ऐसा समझनेके लिए भी कुछ बुद्धि तो आवश्यक है. भगवान आपको इतनी सी भी बुद्धि जिस दिन प्रदान करेगा, मेरी शुभकामना सफल हो जायेगी. परन्तु इस दरम्यान यह वानरक्रीड़ा चालू रखनी हो तो रखो. आपको समझ आये या नहीं मैं शुभकामना तो प्रकट करता ही रहूंगा मिर्ची लगती हो तो भले लगे.

जो कुछ मैंने पूछा उसके समाधान की तो आपसे आशा ही रखनी मरूभूमिमें जलकी खोज लग रही है. ट्रस्टके जो प्रकार बताये उनमें कौन सा या कितने प्रकार सिद्धान्तके अनुकूल और कौनसे या कितने प्रकार सिद्धान्तसे प्रतिकूल? आप अज्ञानवश कानूनी मुद्दा समझ रहे हैं वह आपके धर्माचार्यकी तरह वैष्णवोंकी भीड़ जुटानेपर भी धर्मशास्त्रके लज्जास्पद अज्ञानका द्योतक है. अतः या तो पांचरात्रके अज्ञानवश विधानका अध्ययन करनेके बाद ही समाधान दे पानेका खुदका असामर्थ्य स्वीकारो या पहले उसका समाधान दो. फिर दूसरी कोई चर्चा या मतभेदकी शैखी बघारो. पढ़ो पढ़ो भली-भांति पढ़ो! क्यों खुदका कीमती समय ऐसे विषय की चर्चामें बर्बाद करते

हो जिसका व्यवस्थित ज्ञान नहीं है. मेरे माथे कोई बैठकजी बिराजती ही नहीं है और न कोई बाप को ठेकापे उठानेका प्रसंग खड़ा होता है. आप मदिरापान न करते हो तो ऐसा विचार और आरोप का साहस आपको कैसे हुआ? मेरे घरमें बिराजते श्रीमहाप्रभुजीकी आचार्यभावसे सेवा होती है. आपके घरमें बिराजमान प्रभुकी सेवा जैसे गामके दर्शनार्थियोंसे गुरुभेंटकी खोटी रसीद दे कर ठाकुरजीके भोगकी सेवाके जैसा नाटक हम नहीं रचाते. आज तक न किसी से भेंट श्रीमहाप्रभुजीके लिए मांगी, न वहां मांगी जा सकती है न रसीद ही कोई वहां रखी गयी है, सेवाकी खरीद-फरोख्तकी धर्मकी दुकानकी, होश सम्हालके बकवास करनेसे बाज आओ. आपके यहां ठाकुरजीके फूल पुष्प अनाज और सन्मुख भेंट गोलख रख कर आप देवलकता भरी भीड़में प्रकट करते हो, ऐसे हम श्रीमहाप्रभुजीका मंदिर ऐसे आजीविकार्थ नहीं चलाते.

आपके यहां ना तो फूल ना शाक ना दूध, खुद की चरणभेंटसे चलती है, सन्मुख भेंटकी बड़ी गोलख चलती है और शेखी बघार रहे हो के "हमे देवलक मत कहो" यह तो तुरंत ताजा ही उदाहरण है.

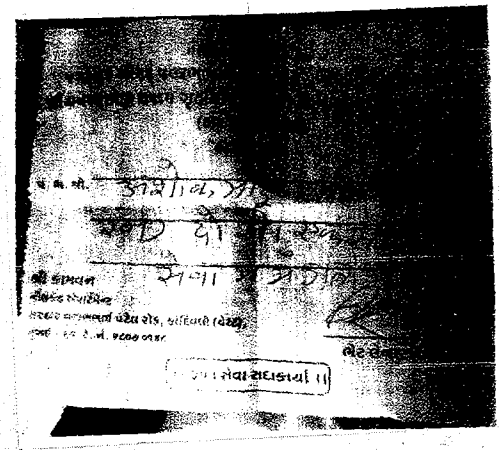

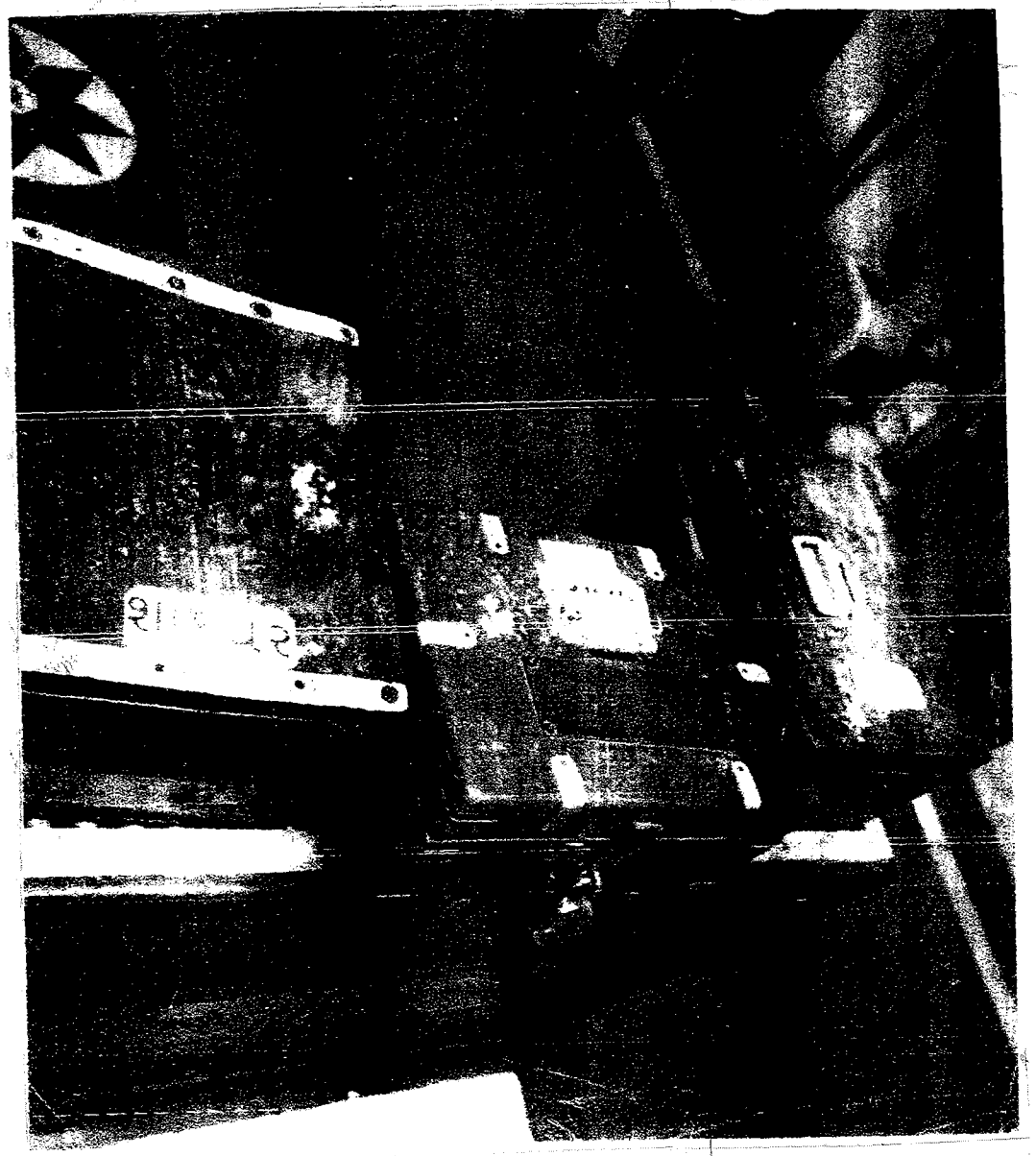

shishir Bawa: जैसे प्रभुमंदिरका विरोध करते हैं ऐसे गुरुमंदिरका क्यों नहीं करते? श्रीमहाप्रभुजीके स्वरूप (मूर्ती) की आचार्य रूपसे सेवाका कोई प्रकार शास्त्रमें अथवा स्वभार्गीय ग्रंथोंमें कहीं हो तो कृपया बताएं. आचार्य स्वरूपका मंदिर है तो जरूर आचार्यमुर्तिको प्रतिष्ठित किया होगा, बिना संस्कार के मुर्तिकी सेवा तो हो नहीं सकेगी, गुरुमुर्तिको पुष्ट (प्रतिष्ठित) करनेका प्रकार बताएं. यदि गुरु मंदिर बनाया जा सकता है तो प्रमाण बताएं, जैसे कहा जाता है की श्रीमहाप्रभुजीने कभी मंदिर नहीं खोले और न मंदिरका उपदेश किया, वैसे ही गुरुमंदिरका उपदेश कहां किया, यह बताएं.

Gopal Gaud: से प्रश्न शिशिर बाबाने पूछे हैं, कोई वैष्णव पूछने नहीं गया था. वेणुगोपालको पूछे थे. तब वेणुगोपाल ने कहा कि इनका उत्तर मैं नहीं दे सकता बड़ो से पूछना पड़ेगा, यहीं से चर्चा की शुरूआत हुई थी.

shyam Bawa: भेज देना कितना झूठ बोलते हैं!

Shishir Bawa: इस msg में श्रीमहाप्रभुजीके द्वारा स्वीकृत नारद पंचरात्रकी नहीं, २१९ संहिताओवाले पंचरात्रकी बात है. श्रीमहाप्रभुजीको मान्य पांचरात्र कौनसी है. (गो.श्याम. पश्चाल्लेख: महाप्रभुजीने पांचरात्रको मान्य रखा, उस मान्यतामें रामानुज और अरामानुजका भेद नहीं किया है. प्रामाणिक और अप्रामाणिक भेद हो सकता है. प्रश्नकर्ता के प्रश्नमें अज्ञान छलक रहा है.) गैरसे पुछनेकी वानरक्रीड़ा आपको लग रही होगी...पर आशय स्पष्ट ही था, वानरक्रीड़ा की शुरुआत ऐसे reply से हुई. १८ दिसंबर २०१७ के msg में यह वानरोचित शब्दोंके प्रयोगसे यह शुरुआत हुई है. हम तो उत्तर देंगे पर पहले यह बताओ कि महाप्रभूजीकी बैठकोंको ठेके पर उठानेका, माने बापका धन्धा करनेका प्रमाण कहां है? और वही गैर जिसको पुछनेके कारण

आपको वानरक्रीड़ाका आनंदानुभव हुआ, वही गैर मुझसे कई सिद्धान्तोकी चर्चा करता है (यह आपको कई सौ बार बता चुका हूं) ...अब उस गैरका आशय मुझसे पुछनेका जो भी हो ...पर मैं उसे वानरक्रीड़ा नहीं मानता ...इसलिए वानरोंको काबू करनेके लिए जो मदारीपना चाहिए उसके बारेमें कमसे कम मैं तो नहीं जानता ...आप खुद ही उनसे पूछिएगा (यह भी पहले कई सौ बार बता चुका हूं). इसलिए मुझे क्या स्वप्नमें वेणुके साथ विवाद करनेकी आज्ञा हुई ऐसी भी कोई बात नहीं है ...हमारे चर्चाके व्यवहारका स्थापनकर्ता खुद वेणु है ...मैं खुद किसीके साथ ऐसे विषयोंपर चर्चा या विवाद नहीं करता (आपने कभी किसीसे भी मेरे बारेमें विवादवृत्ति की बात सुनी हो तो बताइएगा) पर मैं मतभेद स्वीकारता हूं ...पर वल्लभवंशज होनेके नाते और वह भी मुझसे बड़े होनेके नाते मनभेद तो कभी नहीं रखता, न रखूंगा ...चाहे आप वानरक्रीड़ा करते या करवाते रहें. नारदपंचरात्र मान्य है जिसकी आज्ञा शास्त्रार्थमें प्राप्त है, साथ ही पहले ही बता चुका हूं कि आगे इसका अध्ययन संभव होते ही कुछ निष्कर्ष हो सकेगा तब तक इसपर कुछ कमेंट करने का मेरा अधिकार, मैं नहीं मानता. मुझे आज भी याद है कि आप स्वयं मेरे नित्यलीलास्थ पितृचरणकी दशाके दिन पधारे थे, साथ ही तुलसीदासजीके माध्यमसे ग्रंथ प्राप्त हुआ उसका आभार प्रकट करने और आगे भी ऐसी कृपा रखनेकी विनतीके लिए भी आपको मैंने call किया था ...न तब कोई मनभेद था और न अब कोई है और न आगे रहेगा.

Venugopal: दंडवत प्रणाम जेजे. बिलकुल धोखाधडी हुई है. स्वयंके मंदिरकी रसीद दे सिद्ध ही होगई है बात. आपश्री के संग वो कविता शेयर करनो चाहु, आज्ञा हो तो.

Shyam Bawa: करो

Venugopal: तारो की रोश्नीमें चन्द्र छुपे नही।
सुरज छुपे नहीं बादल छायो॥
रीण पडे रजपूत छुपे नहीं।
दाता छुपे नहीं मागन आयो॥
चंचल नारीके नेन छुपे नही।
प्रीत छुपे नहीं पिठ दिखाये॥
कवि "गंग" कहे सून शाह अक्बर।
कर्म छुपे नहीं भभूत लगाये॥

जो शिशिर बावासु चर्चा चली और वाने कहिके हम देवलक व्रत्तिके कीचडमें नहीं है, किन्तु रसीद्सु स्पष्ट हो गयो कि कथा और कथनी में कितनो अंतर है वोही वाक्य होयगो "कर्म छुपे नहीं भभूत लगाये".

Shishir Bawa: व्यस्तताके कारण उत्तर देनेमें काफी विलंब हुआ. जो आपने पूछा उसका उत्तर पहले ही दे चुका हूं. अब क्या वकील की तरह Trust के beneficiaries पर व्याख्यान देना पड़ेगा, Trust का सारा मुद्दा beneficiary पर आधारित होता है, हाँ मरुभूमिमें जलकी खोजके समान मुझसे जवाबकी उम्मीद वैसी ही है जैसे वल्लभमंदिर और श्रीजीवनजी महाराज द्वारा हैदराबाद बालकृष्णलाल मंदिरकी स्थापनाके उत्तरके लिए मैं मरुभूमिमें जलके समान उचित उत्तर खोज रहा हूँ. अब अज्ञानी कहकर भी क्या फायदा जब ज्ञान लेने के लिए प्रश्न पूछनेपर इतना आगबबूला हुआ जाता हो तब अज्ञान दूर कैसे करेंगे? और शेखी कौन बघारता है यह तो मैं कई msgs के उत्तरसे स्पष्ट कर चुका हूँ. और श्रीमहाप्रभुजी घरमें बिराजते हैं तब तो घरके श्रीमहाप्रभुजीका मंदिर खोलनेका औचित्य क्या यह भी विचारणीय है. जब हमारी खोटी रसीद हैं और पुष्टिमार्गीय गुरुगृह हवेली नाटक है पर कमसे कम यह नाटक खुद श्रीजीवनजी महाराजने भी किया हुआ है, वल्लभमंदिर जैसा नया नाटक तो

नहीं ही किया. कमसे कम हमारे नाटकपर स्वयं श्रीहरिरायजीके अनुज श्रीगोषश्वरजी की शिक्षापत्रकी टीका (३०-७) में आज्ञा तो है. अब कोई श्रीगोपेश्वरजीके विपरीत देवलक कहता रहे तो हम तो उसे उसीका बैडलक (badluck) मानते हैं. मुझे आधार है श्रीगोपेश्वरजीके वचनोंका भी चतुराईपूर्वक निस्तारण के लिए कोई नया शिगूफा आनेवाला है. समयानुकूल पर आगेके जो भी msgs होंगे उनके उचित उत्तर दूँगा

Shyam Bawa: उत्तर तो कुछ भी दिया नहीं टालमटोल के उत्तरसे तो दंडवत प्रणाम करानेवालोंको ठगा जा सकता है सबको नहीं. पांचरात्रके आधारपर सार्वजनिक देवालय (ट्रस्ट या न्यास) का प्रभेद निर्णायक बन सकता है उसे रामानुज संप्रदायका मनानेकी और कानूनी मुद्दा मनानेकी बेवकूफी बेशर्मीसे प्रदर्शन करके छटकना चाहते है सो पोल तो यहीं खुल गई सारी. आइनेमें जरा खुदकी शक्ल देखनी चाहिए कि शास्त्रचर्चा या वाद करनेकी औकात क्या है. मियाजी गिर गए फिर भी टाँग ऊंचीका पाखंड. अब जब और कुछ नहीं सूझा तब दंभ भरी खुदकी शालीनताको भूलकर नित्यलीलास्थित बड़ोकी निंदापे उतर आए. एसी कुटिल मानसिकतावालोंको सिद्धान्त समझनेका अनधिकारी माना जाता है. वह आशंकाके अनुरूप ही सिद्ध हुआ. खेर कृष्णकुमारजी इनके पिता, जैसे बेवकूफ थे ऐसा ही बेटाभी पैदा कर गए भूतलपर भाररूप! जिन गोपेश्वरजीकी बात कर रहे है उन्हें पत्र द्वारा शिक्षाप्रदान करनेवाले श्रीहरिरायजीके सारे वचन जो सिद्धान्त-वचनावलीमें संकलित हैं उनका अर्थ तो इनके पिताकी अपठितताके ये उत्तराधिकारी हे सो जानकारी तो कहाँसे सोची जा सकती है! रही बात मेरे गुस्सा होनेकी तो वह तो एक इंसान होनेकी वजहसे मुझे आ सकता है. परंतु इस बेवकूफ बालकमें कमसे कम मुझे गुस्सा दिला सके एसी औकात मानने तैयार नहीं हूं. मेंढककी तरह टरटरपर कोई गुस्सा क्यों और कैसे कर सकता है? हंसी तो आती है बेवकूफीपर जिसे रोक पाना

मुश्किल है. जहां तक इनके प्रश्नोंके उत्तरका सवाल है तो वह तो खुलासा जिनसे इन्होंने शास्त्रोंका अध्ययन किया ही नहीं उनके जाने बिना उलुल जुलूल सवाल कर रहे हैं उनके अध्ययनकी बात कही तो, पढ़नेके बाद जवाब दूंगा. तो क्यों उससे पहले चर्चा करते रहना चाहते हैं. यदि मेरी या मेरे बड़ेरोका किसी भी बहाने निंदाका ही गेम प्लान हो तो इनके पिताने भी तो खुद जो सिद्धान्तविरूद्ध देवलकी आजीविका अपनाए हुवे थे, उसके विपरीत संयुक्तघोषणापत्रपर हस्ताक्षर किए उसमें मेरा तो कोई कसूर नहीं था. तो खुदके पिताको मूरख मान रहे हैं या खुदको ज्यादा चतुर इसका जवाब खा गये. ये तो गजब की हलकटाई प्रकट की है. खैर अब जो गोपेश्वरजीका व्रजभाषा उद्धरण लाए हें ऐसे ग्रंथोंके बारेमें इनके पूर्वजों (कामवनवाले श्रीगोविन्दजी महाराज)के विधान उल्लेखनीय बन जाते हैं कि "मूलग्रन्थाविरोधेन प्रामाण्यं अन्यथा धूर्तकल्पिता" (उ.सु.१६४)माननी.

जिन गोपेश्वरजीके भाषाग्रन्थसे, क्योंकि मूल संस्कृतके उद्धरण दे ऐसी अपेक्षा अपठित बेवकूफसे मैं भी नहीं रखता, खैर इन गोपेश्वरजीके पिता श्रीकल्याणरायजी के हस्ताक्षरित पत्रमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि श्रीमहाप्रभुजी प्रभुचरण और सात बालकों तक श्रीजीमंदिरमें सेवाके लिए पधारते थे पर वहांसे ना तो कुछ भी लेते थे और न खुदका अधिकार जताते थे. यह तो चौथी पाँचवी पीढ़ीमें श्रीदामोदरजी और श्रीविट्ठलेशरायजीसे अपसिद्धान्त शुरू हुआ. अब बड़ोंने एसे तो कई सिद्धान्तविरूद्ध आचरण किए भी हों तो आचार्यवचनोके आधारपर ही सिद्धान्तनिर्णय लिया जाता है. पर खुद अपने देवलक पिताकी तरह देवलक आजीविका अपना रखी हो तो मिर्ची तो लगनी स्वाभाविक है. मैं तो अब भी अपनी शुभकामना यही प्रकट करनी चाहूंगा कि एसी बेवकूफीभरी चर्चा चालू रखनेके बजाय पढ़ो पढ़ो और पढ़ो!! क्यों अमूल्य समय बर्बाद करते हो. एसा देवलकी पाखंड क्यों करना पड़ता है कारण एक ही दिखायी देता है अनपढ़ होनेके कारण.

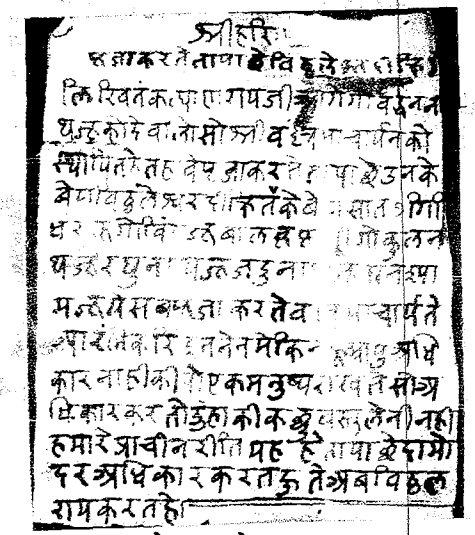

Shishir Bawa: जो आपने पूछा उसका उत्तर पहले ही दे चुका हूँ, अब क्या वकील की तरह Trust के beneficiaries पर व्याख्यान देना पड़ेगा. (मेरा:- गो.श्याम. जवाब: यह सारा विषय पांचरात्रका शास्त्रीय विषय है जिसका 'क ख ग'का भी ज्ञान तो है नहीं और मंदिर या गुरुघर की चर्चा करने चले), सारा मुद्दा beneficiary पर आधारित होता है, (गो.श्याम: अरे इस मूर्खताकी पराकाष्ठाका क्या इलाज?). हाँ मरुभूमिमें जलकी खोजके समान मुझसे जवाबकी उम्मीद वैसी ही है जैसे वल्लभमंदिर और श्रीजीवनजी महाराज द्वारा हैदराबाद बालकृष्णलाल मंदिर की स्थापनाके उत्तरके लिए मैं मरूभूमिमें जलके समान उचित उत्तर खोज रहा हूँ अब अज्ञानी कहकर भी क्या फायदा जब ज्ञान लेने के लिए प्रश्न पूछनेपर (गो.श्याम: इसी का जवाब मैने दिया था कि श्रीकृष्णकुमारजीने भी सिद्धान्त कुछ कबूला था और आचरण उसके विपरीत व्यवसायिक मंदिर चलानेका करते थे. तो आगबबूला हो गये तब समाधान कोई कैसे दे) शेखी कौन बघारता है यह तो मैं कई msgs के उत्तर से स्पष्ट कर चुका हूँ (गो.श्याम: इस तरहके उड़ाउ उत्तर देना स्पष्ट उत्तर समझते हों तो अक्कलपर तरस आती है) और श्रीमहाप्रभुजी घर में बिराजते

हैं तब तो घरके श्रीमहाप्रभुजीका मंदिर खोलनेका औचित्य क्या यह भी विचारणीय है.

Shyam Bawa: जवाब तो इसका भी मैने दिया ही था कि भगवन्मंदिर स्वपारिवारिक भक्तिमार्गीय भगवत्सेवाके लिए होता है आजीविका कमानेके लिए नहीं. श्रीमहाप्रभुजीका मंदिरभी इसी देवद्रव्यके उपभोगके अपराधसे बचनेके लिए. सो भी शिशिर देवलककी तरह रसीद खुदके नाम की छापकर मंगलभोगके नाटकके लिए नहीं खोला. क्योंकि भेट रसीद लेने - देनेका हमारा मंदिर नहीं.

गोपेश्वरजीके पिता श्रीकल्याणरायजीका निज हस्ताक्षर वाला पत्र पहले किसीने अधिकार नहीं किया अब कर रहे हैं इसका मतलब क्या?

शिशिरबावाने भेजी क्लिप्स :

Shri DixitBawa:

श्रीदीक्षित महाराजश्री: अरे एसे कहीं मन्दिर है कि जो semi pushtimargi सेमि पुष्टिमार्गीय जीवको कह्यो जाय है, उनमें जाके हमारे पितृचरणनेभी उन स्वरूपको पुष्ट करके दिये है तो तावता वे सब पुरे पुष्टिमार्गीय स्वरूप है ये तो नहीं फिर यासु उनने वेदस्वरूप सेमि पुष्टिमार्गीय पुष्टा दिये मैं तुमकु नाम तक बताउंगो क्योंकि मोकु याद है पर तावता ये पुष्टा दिये अरे हमलोग बालकपनमें वहां अन्नकूटमें जाते भी हते हर साल भाई पर वे जो है या प्रकारसू पुष्टा दिये तावता जो याको अर्थ ये नहीं हो गयो कि काकाजीने

जितने पुष्टादिये वे सब मर्यादामार्गीय हो गये, कि काकाजीने जितने पुष्टाये वे सभी सेमिपुष्टिमार्गीय हते. ये नहीं है प्रभुचरणकी विधिसू उन्होंने जो पुष्टाये वे हमारे मनसु तो जो है वह महानिधि तुल्य है. क्योंकि हमारे तो गुरुदेव है वे और उनको क्या स्वरूप है यह हमलोगनकू तो अनुभव है. यासू हमारे लिए तो वे भी निधितुल्य है उनके पुष्टाये भये, हम ये कभी भी माननेकेलिए नहीं तयार है के भई उनके पुष्टाये भये यासू वे सेमिपुष्टिमार्गीय है. हां प्रभेद है, रीति पद्धति प्रभेद है अब आज हमारे पन्नालालजी ताज्जीने ये पद्धतिसू जो पुष्टाये या कुछ थोड़ोसो सेमि पुष्टिमार्गीय पद्धतिसू पुष्टाये परंतु ये लक्ष्मीनारायण स्वरूप जो माधवबागमें बिराजे है वो हमारे पन्नालालजी ताज्जी माण्ड़विवाले मथुरानाथजी ताज्जी इनके गुरु हते और उनके द्वारा ये प्रतिष्ठापित स्वरूप है. तावता जो है वो पूर्ण पुष्टिमागीर्य विधि वहां हुई युं नहीं है. पर यासु उनके जितने भी कच्छमें पधराये भये मर्जादिनके स्वरूप हैं वे सब भी सेमिपुष्टिमार्गीय स्वरूप है यह नहीं कह्यो जाय, विचार करके देखो बहोतसे गंभीर पोईंट के साथ तुम्हारे सामने जो है प्रूफके साथ दे रह्यो हूं, क्योंकि मैंने ये शब्द मनोहरदास त्रिभुवनदास और जो है वो धर्मदास त्रिभुवनदास और खुद त्रिभुवनदास शेठके मुखसू सुने हैं ये शब्द के "पन्नालालजी महाराजश्रीओ आ स्वरूपने पधराव्यू छे" और इनके कपोलनके

इतिहासमें भी होयगी ये बात के कौनसे स्वरूप कहां कौनने पधराये, क्या है ये सब बातें जरा ध्यान देनेकी है तावता वहां है सेमिपुष्टिमागीर्यत्व तो है ही वो आजभी असर है रीत भांत सेवा की अमुक तो जो है वो पुष्टिमार्गीय ढ़ंगसूं ही हो रही है वो है ही परन्तु सर्व नहीं कही जासकती है. ये भी जो है वो साक्षात के बात निश्चित है वहां कोई जानो अन्याश्रय आदि मत समजियो हों कोई फिर मेरी बातमें मूर्खताभर्यो मत अर्थ लिजियो के वहां जानो अन्याश्रय है. क्योंकि जब वो कछु भी पुष्टिसंबंध आ गयो तो फिर जो है वो अन्याश्रय नहीं हो गयो परन्तु जो वस्तुस्थिति है वो जो है वो वस्तुस्थिति तुमारे समक्षमें है जो हमने खुल के जो है तुम्हारे समक्ष रख्खी है जासू तुम परिस्थिति कू जो है वस्तुस्थिति कू बराबर समझो.

स्वरूपात्मक प्रभु : (विद्यमान गोस्वामी आचार्योमां मुंबई मोटा मंदिरना पूज्यपाद गोस्वामी १०८ श्रीदीक्षितजी महाराजनु स्थान मोखरे छे. वैष्णव सृष्टिमां एमनी अपूर्व विद्वत्ता माटे बे मत ज नथी. अनेक धर्मोनो समन्वयपूर्वक तुलनात्मक अभ्यास ए दीक्षितजीनी विशिष्टता छे. स्वरूपनी महत्ता समजावतो एओश्रीनो लेख अहीं आपेल छे. संपादक)

श्रीत्रीकमरायजी मंदिर शताब्दिपूर्ति उत्सव समितिना सर्वे प्रमुख कार्यकर्ता, सहकारी कार्यकर्ता तथा उत्सवमां सम्मिलित थनार सर्वे वैष्णव बंधुओना प्रति हार्दिक आशीर्वाद.

આપ લોકોએ અદ્વિતીય સ્વધર્મનિષ્ઠા તથા પરમ ઉત્સાહ સાથે ભગવત્ - મંદિરની શતાબ્દિપૂર્તિના ઉત્સવને માની પરદેશમાં રહેનાર સર્વે વૈષ્ણવ બંધુઓ સમક્ષ ઉત્તમ આદર્શને ઉપસ્થિત કર્યો છે તેમજ પોતાના હૃદયના અંતસ્થિત વૈષ્ણવતાના ભાવને મૂર્તરૂપથી ઉપસ્થાપિત કર્યો છે.

આપણા વૈષ્ણવ સિદ્ધાન્ત અનુસાર આપણાં મંદિરોનાં પ્રતિષ્ઠિત ભગવત્ - સ્વરૂપ સાક્ષાત્ સ્વરૂપાત્મક છે. અન્ય મતાનુસારી દૃષ્ટિથી જેમ સેવ્યસ્વરૂપ સાક્ષાત્ સ્વરૂપાત્મક છે. અન્ય મતાનુસારી દૃષ્ટિથી જેમ સેવ્યસ્વરૂપ દ્વાર માત્ર હોય છે કે પ્રતીકમાત્ર હોય છે તેમ આપણે સર્વથા સ્વીકારતા નથી. આપણે તો આપણા ભજનીય સેવ્યસ્વરૂપને સાક્ષાત્ સ્વરૂપાત્મક માનીયે છીયે. અને તે પણ શાસ્ત્ર પ્રમાણોથી સિદ્ધ કરીને માનીયે છીયે.

આપણે ભગવાનના મૂલરૂપ, અવતારી રૂપ, અંતર્યામી રૂપ, સ્વરૂપ રૂપ, અક્ષર રૂપ, વ્યૂહ રૂપ, અવતાર રૂપ, અંશવિભૂત્યાદિ રૂપ એમ અનેક પ્રકારથી ભગવાનના રૂપો માન્યે છીયે. શ્રીરામાનુજ મતમાં પણ ભગવાનના મૂલ, વિભવ, અંતર્યામી, વ્યૂહ તથા અર્ચા (સ્વરૂપ રૂપ) રૂપથી અનેક પ્રકારો માન્યા છે. બન્ને વૈષ્ણવ મતો માં સાક્ષાત્ પરાત્પર પરબ્રહ્મ ભગવાન્ જે પરમ કાષ્ઠાપન્ન છે તેને મૂલ, અવતારી, અંતર્યામી, અને સ્વરૂપ રૂપથી માનવા છતા મૂલ રૂપ કે જે વ્યાપિ વૈકુંઠમાં (ગોલોક) બિરાજે છે તેનાથી અવતારી રૂપે જે શ્રીકૃષ્ણ અવતીર્ણ થઈને બિરાજ્યા છે તેમને તથા તેમના સ્વરૂપ રૂપને (જેની આપણે સેવા....અભિન્ન માનીયે છીયે અને આ અભિન્નતા નો સ્વીકાર કરતા આપણા હૃદય સ્થિત વાસ્તવિક ભાવને તથા...છીયે....

આપણે સર્વે વૈષ્ણવો નિર્ગુણ, નિરાકાર, નિધર્મક બ્રહ્મને પોતાના

સેવ્ય, દિવ્ય ગુણધર્માદિક યુક્ત સ્વરૂપથી પૃથક દ્વિતીય રૂપ 'અન્યમતવત્' માનતા નથી. તેમજ અન્યમતસિદ્ધ, નિર્ગુણ નિર્ધર્મક, નિરાકારને વિશુદ્ધ પારમાર્થિક પણ નથી માનતા. આપણે તો આપણા સેવ્યશ્રી નંદરાજકુમારને જ પરમકાષ્ઠાપન્ન, પરાત્પર, પરબ્રહ્મ, પરમ-વિશુદ્ધ, પારમાર્થિક આપણા સર્વ સ્વરૂપથી જાણીયે છીએ. આપણે આપણાં નંદરાજકુમાર પ્રાકૃત ગુણધર્માદિનો આશ્રય નથીલેતાં તે દ્રષ્ટિથી જ નિર્ગુણ, નિર્ધર્મક માનીએ છીયે તથા આપણા 'સેવ્ય' નો દિવ્ય આકાર એ પ્રાકૃત આકાર નહિ હોવાથી તેને જ નિરાકાર માનીએ છીયે (એટલે કે તેમને લૌકિક આકાર નથી)

અપ્રાકૃત નિખિલ ગુણધર્મરૂપ, તથા ગુણધર્મયુક્ત હોવાથી તેને આપણે દિવ્ય ગુણધર્મયુક્ત માનીએ છીયે તેમજ એ આપણા સેવ્ય, દિવ્ય, અલૌકિક આકાર અને દિવ્ય રૂપ હોવાથી આપણે એમને દિવ્ય આકાર રૂપ માનીયે છીએ.

પ્રાકૃત અપ્રાકૃત સકલગુણધર્મ તથા આકારથી શૂન્યને તો આપણે સર્વથા પ્રમાણથી અસિદ્ધ અપ્રમાણિક માનીએ છીએ. આથી જ અન્ય મતથી સિદ્ધ નિર્ધર્મક, નિર્ગુણ, નિરાકારને આપણે સ્વીકારતા જ નથી અને તેથી આપણે આપણા સેવ્ય સ્વરૂપને સહજ સાક્ષાત પરબ્રહ્મ, સ્વરૂપાત્મક, પ્રમાણિક અને પારમાર્થિક રીતે માનીએ છીએ તેમ નિશ્ચિત થાય છે.

આપ્રકારે જ્યારે અમારા સેવ્ય સ્વરૂપ સાક્ષાત્ સ્વરૂપાત્મક છે ત્યારે અમારા મંદિરો સાક્ષાત્ નન્દાલય સ્વરૂપ રૂપ છે અને તેથી જ અમારા મંદિરોની શતાબ્દી પૂર્તિ અમારા હૃદયમાં મહાન ઉત્સવની પ્રેરણાદાયિકા બને છે.

જો આપણે દ્વાર અથવા પ્રતીક માનીએ તો વાસ્તવિક ઉત્સવનો

ભાવ વ્યક્ત થઈ શકે નહિ. જેમ દ્વાર અથવા પ્રતીક માનનારાઓનું સેવ્ય સ્વરૂપ કાલ્પનિક હોય છે તેમ તેમનો ઉત્સવ પણ કલ્પના માત્ર હોય છે. પરંતુ આપણા સેવ્ય સ્વરૂપ આપણું મંદિર એ વાસ્તવિક રીતે સ્વરૂપાત્મક છે અને તેથી આપણો આ શતાબ્દિ પૂર્તિ ઉત્સવ પણ સ્વાભાવિક અને વાસ્તવિક છે તે નિશ્ચિત છે અને તેથી જ પરદેશમાં રહેવા છતાં પણ, વ્યાપારાદિ કાર્યવશાત્ ઈતર સહવાસમાં હોવા છતાં પણ આપણા વૈષ્ણવોના હૃદયના ભાવો વિચલિત નથી થતા એજ આપણા સેવ્ય સ્વરૂપના સ્વરૂપાત્મકત તથા વાસ્તવિકતાના નિદર્શનરૂપ છે. આપણાં પ્રભુ ભક્તવશ છે. પરમપૂર્ણ દયાળુ છે, તેથી જ્યાં જ્યાં તેમના ભક્તો રહે છે. ત્યાં ત્યાં તેમને સંભાળવાને પ્રભુ સ્વયમ્ સાક્ષાત્ સ્વરૂપથી બિરાજે છે એ આજે એડનમાં પ્રત્યક્ષ થઈ રહેલ છે.

એડનના વૈષ્ણવો દ્વારા આ ઉત્સવ ઉજવાતો જોઈ મારું હૃદય અત્યંત પ્રસન્ન થાય છે. તેથી આ ઉત્સવ સમિતિના પ્રધાન સંચાલક શ્રીયુત્ શ્રીગુલાબચંદભાઈ, શ્રીવ્રજલાલભાઈ, શ્રીપ્રભુદાસભાઈ, શ્રીધરજલાલભાઈ, શ્રીઅનીલભાઈ, શ્રીગોકુળદાસભાઈ, શ્રીનાગરદાસભાઈ, શ્રીમહાદેવભાઈ, ગીરજાશંકર, શ્રીબાબુલાલભાઈ, વિ.વિ. તથા અન્ય સભ્યો તથા આ શુભ કાર્યમાં સમ્મિલિત સર્વે ભાઈઓને મારા હાર્દિક શુભાશીર્વાદ છે. કેમકે આ સર્વે એ સ્વધર્મ ભાવના તથા સ્વસંસ્કૃતિના આદર્શ ને મૂર્તરૂપ આપ્યું છે તેથી મારી દ્રષ્ટિમાં આ બધાકી ધર્મસેવા અવિસ્મરણીય છે.

... સમક્ષ ઉત્તમ આદર્શને ઉપસ્થિત કર્યો છે તેમજ પોતાના હૃદયના અંતસ્થિત વૈષ્ણવના ભાવને મૂર્તરૂપથી ઉપસ્થાપિત કર્યો છે.

Shyam Bawa: ऐसे और भी खुदके कई विधानोंको अपसिद्धान्त घोषित किया था "मुंबई समाचार" दैनिकमें. जो बात उन्होंने खुद इन्कार दी उसे उनके अनुगामिओंको माननेका दुराग्रह कितना अबौद्धिक

है. हम तो जो उन्होंने माना उसको भी तभी मान्य रखना चाहेंगे जो श्रीमहाप्रभुसे लेकर पूर्वाचार्यो द्वारा अंगीकृत हो. क्योंकि वाल्लभ संप्रदायमें महाप्रभु-प्रभुचरणसे बढ कर किसी भी पूर्वजका वचन मान्य नहीं हो सकता. और उनके अनुकूल शिशिरबावाके पिता श्रीकृष्णकुमारके भी वचन हमें हृदय-बुद्धिसे सर्वथा शिरोधार्य हैं.

पुनश्च : महाप्रभुके स्वरूप तथा मन्दिर प्रतिष्ठाके विधान और मंत्रोका मुद्दा उछाला, उसके बारेमें सीधीसी बात यह है कि जहां श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरण-सप्तात्मज और अन्यभी परवर्ती पूर्वजोंके पादुका, हस्ताक्षर, चित्रजी आदिकी सेवा सम्प्रदायमें कभी स्वयं आचार्यचरणद्वारा अथवा श्रीगिरधरजीकी पादुकाके सेवामें पधरानेके प्रसंग चतुर्थात्मज श्रीगोकुलेशकी आज्ञाके अनुसार प्रतिष्ठाविधिके बिना भी सेव्यताका सिद्धान्त प्रसिद्ध ही है जिसकी जानकारी होते भये भी अथवा न जाननेके कारण इस मुद्देको उछालना प्रश्नकर्ताकी कुटिलता या अज्ञान का प्रमाण है. महाप्रभुके चित्रकी सेवा किशनगढके राजघरानेमें चारसौ वर्षोंसे चल रही है. श्रीरघुनाथजी को प्रभुचरणने आत्मचित्र दर्शनार्थ प्रदान किया था. न केवल इतना अपितु श्रीनवनीतप्रियाजीका तो ठीक, हाथीघोडोंके चित्र भी श्रीप्रभुचरणके निजहस्तों चित्रित गोस्वामिओंके घरोंमें सेवाके साथ बिराजमान हैं. यह सब स्वयं महाप्रभुजीकी "**तव परि ये चरन्ति अखिललसत्त्वनिकेतया**" (भाग.पुरा.१०।८४।२७) सुबोधिनीमें "**त्वत्सम्बन्धिनं यं कञ्चन पदार्थम् अनुचरन्ति**" (सुबो.१०।८४।८७) के भक्तिमार्गीय विधानोंपर आधारित हैं. सर्वनिर्णयान्तर्गत "तदभावे स्वयं वापि मुर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितं" के साकार-व्यापक-ब्रह्मवादी श्रद्धाका अनुभाव है. बावजूद इसके प्रभुचरणने पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा विधि बताई वहां "**श्रीमूर्तेरपि एवमेव, भगवता सहैव वा एवं करणे साक्षात्पुरुषोत्तमात्मकता सिद्धा**" (पुरुषो.प्रति.प्र) इस वचनमें स्वामिनीके लिए अलग मन्त्र नहीं बताये. यह पुस्तक पढनेका दावाभी शिशिरबावा कर रहे हैं. फिरभी प्रश्न पूछ रहे हैं

कि मन्त्र क्या है विधि कहां है? तो सम्भावना तो दो ही प्रकट होती है यातो समझ का अभाव है या जान कर के महाप्रभुजीका मन्दिर (निज गृह में स्वार्थ प्रतिष्ठापित बिनव्यावसायिक) खोला उसके उदाहरणपर खुदके ठाकुरजीके व्यावसायिक मन्दिरको सैद्धान्तिक बतानेका गेमप्लान है. परन्तु किशनगढके महाप्रभुके मन्दिरमें न तो जनतासे भेंट ऐंठी जाती है, न गोलख, न रसीद अपने या महाप्रभुजीके नामकी रखी गयी हैं; जैसा छद्म उनकी व्यावसायिक हवेलीमें चल रहा है. फिरभी पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार ग्रन्थ और पांचरात्र तंत्रविधानकी एकवाक्यता साध कर साथ ही साथ पुरुषोत्तमजीकी अवतारवादावलीके अन्तर्गत आते वस्त्रसेवावादको दृष्टिगत रख कर महाप्रभुके स्वरूपकी प्रतिष्ठाविधानके मन्त्रोंका ऊह करना हो तो अतिदेशसिद्ध हो सकता है "**सूत्रेषु अदृष्टं पदं सूत्रान्तराद् अनुवर्तनीयं**" न्यायेन. अतएव श्रीहरिरायजीका प्रभुचरणोक्त प्रकारसे भी संक्षिप्त प्रकारका ऊह करके स्वरूपस्थापनका विधान हरिरायवाङ्मुक्तावलीमें प्रदत्त देखा जा सकता है.

स्वतन्त्र महाप्रभुके मन्दिरके वचनकी जिज्ञासाके समाधानार्थ कोटाके बडे महाप्रभुजीका मन्दिर और बैठकोंकी बात बताई तो यद्वातद्वा प्रलाप करने लग गये. मुद्दा तो स्वतन्त्रताका था तो बैठकोंमें भगवत्सेवांगभूत महाप्रभुकी सेवा नहीं होती तो स्वतंत्रसेवा तो हुई कि नहीं? बुद्धिप्रयोगद्वारा बातको समझ पाये वो शिशिरबावा नहीं. यदि हम वल्लभवंशजतया गुरुपदका भोग करनेवालोमें आत्मगौरव लेशमात्र भी हो तो जिज्ञासा चर्चा या आक्षेप प्रत्याक्षेप इस बारेमें मुखरित होने चाहिये थे कि महाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तवचनोंका अभिप्राय क्या भगवत्सेवा या भगवत्कथा आजीविकार्थ होनी चाहिये अथवा नहीं? किसके, पिताने पितामहने या प्रपितामहने क्या कबूला या क्या किया, क्या न अस्वीकार किया या स्वीकारनेके बावजूद आचरणमें निभा पाये नहीं? इसका कोई भी महत्त्व ही मान्य या विचारणीय नहीं होना चाहिए. यह बड़ोंके प्रति आदरभाव या अनादरभाव का प्रश्न न होकर सम्प्रदाय प्रवर्तक

महाप्रभु-प्रभुचरणोंके उपदेशके प्रति श्रद्धा विश्वास और निष्ठा का प्रश्न है.

मेरे पिताद्वारा 'सेमीपुष्टिमार्ग' पदके प्रयोगके बारेमें जो बावेला खडा किया उसमें भी यही कहना चाहता हूं कि 'सेमी' का मतलब आधा होता है. अब पुष्टिप्रवाह मर्यादाभेद ग्रन्थ तुलसीदास शास्त्रीसे भलीभांति पढा होता तो प्रश्न उठ नही पाता. क्योंकि पुष्टिमर्यादा / और मर्यादापुष्टि का प्रभेद ही आधा पुष्टिमार्ग और आधा मर्यादामार्ग होता है यह पता होना चाहिये था! इतनीसी छोटी बातका बतंगड़ बनाना मूलतः अज्ञानमूलक है परन्तु कुछ कहो तो लगता है 'नींव हल गयी' खुदने सिद्धान्तके बजाय बडोने किये सिद्धान्तबाह्य आचरणकी चर्चाका चिड्डा दिया शुरुआतसे खुदके पिताके विपरीताचरण पे ध्यान आकर्षित किया तो आगबबूला हो गये. गप्प और झोंक दी कि हम सिद्धान्त पालन कर रहे है. जब खुदके विपरीत आचरर प्रमाणरूप रसीद प्रस्तुत की तो हैदराबादमें नि.ली. जीवनलालजीकी ताज्जीकी निन्दा करने लगे. अब ये तो सिद्धान्तचर्चामें सिद्धान्तकी चर्चाके समय अकस्मात् ऐसी चर्चा करने लग जाना कि किसकी पत्नी अपने पति दुराचरण वृत्तको देख कर पियर भाग गई और दूसरेके पुरुषसे विवाह कर लिया. अरे कर लिया तो कर लिया! महाप्रभुके सिद्धान्तके, सच्चे या खोटे आशयसे ऐसी दुराचारिताका क्या सम्बन्ध, उनके वंशजोंने भी की हो तो! व्यक्तिके आचरणकी क्षतिसे सिद्धान्तका कोई सम्बन्ध नहीं होता. हर व्यक्ति तीन-चार पीढीके बाद (आदरणीय बडे) बन जाते हैं. बड़ा बने या छोटा, महाप्रभुके सिद्धान्त उनके आचरण या वचनों से नहीं स्वयं महाप्रभुके उपदेशवचनसे निर्धारित होने चाहिये.

अतः स्वयंके भीतर वल्लभवंशज होनेका स्वाभिमान हो तो वल्लभोपदिष्ट सिद्धान्तके प्रति इतना अमर्ष, आज घट न पाता हो तो कल और इस जन्ममें नहीं तो आगामी जन्ममें निःशेष हो जाये

ऐसी शुभकामना! के अलावा और क्या कहना!!

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोऽस्तु!

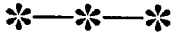

परिशिष्ट

प्रिय व्रजेन्द्रबावा!
तथा
प्रिय सुरेशभाई!

आपके द्वारा फॉरवर्डेड 'रमेशपिपलिया के छद्मनामसे गालीगलौचवाले संवाद शुरुमें विस्मयजनक लगे. सो प्रेशरकुकरकी सीटी बजाके हकीकत जान लेनेको पिशाचके साथ पिशाचकी भाषा बोलके हकीकत जान लेनेके बाद मैं आश्वस्त हो गया हुं. ये और कोई व्यक्ति नहीं बल्कि सुखधाममें मेरे प्रवचनोंमें गालीगलौचके पोस्टकार्ड भेज कर पहले भी एकाधिक बार माफी मांगनेवाला मेंटल केसवाला गोस्वामी बन्धु ही रूपनामविभेदेन अपनी क्षुद्रताको उजागर करनेमें माहिर व्यक्ति है. सो बादमें ऐसी नाटकबाजी करने लग जाते है.

देवद्रव्यपर अपने पेट और परिवार को पालना इन Good for Nothing की लाचारी होती है. इसलिये इनकी खासीयत यही है कि सिद्धान्तचर्चाको किसी व्यक्तिनिन्दामें उलझा कर मूल मुद्देपर से लोगोंका ध्यान बंटवा देना. अतः "सौ चूहे मार कर बिल्ली हजको चली और तुम सच्चे और सब मूरख ये तो कितना बडा अहंकार हो गया!" ऐसी बात उछाल रहे हैं. मतलब यही कि बातको किसी भी सिद्धान्तके मुद्देके बजाय व्यक्तिपरक बनाके भटका देना. बेचारे अनपढ़ तथा पातित्यकारी देवद्रव्योपभोगपर पलनेवाले इनके पास दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं.

अब महाप्रभुके सिद्धान्तके बारेमें कुछ जाग्रति जगत् भरमें धीरे धीरे फैलने लगी सो इन मूढ़जनोंने ग्लोबल मीडियापर यह आपसी

छींटाकसीकी नौटंकी शुरु कर दी है. इससे सबसे बडा लाभ यह होगा कि सच्चे महाप्रभूपदिष्ट पुष्टिमार्गमें (बिन्दुसृष्टि और नादसृष्टि के प्रभेदके अनुसार "**भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् पिता**" के आज्ञानुसारी नहीं पर) "**यः पुमान् पितरं द्वेष्टि**" वचनोक्त जो लोग अज्ञानवश या जन्मना घुस गये हैं उन्हें पुष्टिमार्गमें चल रही नंगाई और हलकटपने के प्रमाण fb टाईपके ग्लोबल प्लेटफोर्मपर ये लोग एवलेबल बनाकर मार्गकी इतनी बदनामी करा देंगे कि जिनमें भगवान्ने पुष्टिका बीजभाव स्थापित न किया हो ऐसे सारे लोग इस पोलंपोलसे वाकिफ खुद मूंह मोड लेंगे.

जब मैंने सिद्धान्तचर्चापे बात मोडनी चाही तो सारे मुद्दोंके जवाब दिये बिना दोबारा व्यक्तिलक्षी चर्चा बना दी इससे मैनें भलीभांति भांप लिया.

इन्हे "**रेहमानके अथवा कोई रासलीलाके, पिपलिया स्त्रीमे नाजायज औलाद**" कह कर इन्हें इन्के हलकटाईकी निचली पायरी पर उतारना था और देख लो कितनी जल्दी राजखुशीसे ये लोग आ धमके मुझे 'भाटियापुत्र' कह कर. क्योंकि मूलमें ऐसी ही चर्चा कर के ये जनताको मूल मुद्देसे भटका कर बरगला देने ही ये लोग आज पुष्टिप्रभु या श्रीजी को खुदका पति माननेके बजाय उनकी भक्तिके धन्धा और प्रसाद के धन्धेको अपना पति मानकर वो खतम होने जा रहा हो तो सती बनके आगकी चितामें खुदको खतम कर देने आमादा हो गये है.

रही बात श्रीजीके पुष्टिमार्गमे ऐतिहासिक महत्त्व और आधुनिक कालमें श्रीजीके न तो पुष्टिमार्गीय भक्तिभावनाके अनुरूप, जिसका उल्लेख आचार्यचरणने "**हमारे ठाकुरके बिराजनेका स्थान देवालय जैसी नहीं किन्तु नन्दालयके जैसा**" बनानेका आग्रह रखा था, जिसमें समर्पणदीक्षा

द्वारा नियत निज गृह तन धन परिवारजनके विनियोग रूपी भगवत्सेवा का था. इसका विकल्प या तो भगवत्कथा थी अथवा प्रपत्तिमार्गके अनुसरण द्वारा जगन्नाथजी पांडुरंगजी श्रीरंगजी या तिरुपतिबालाजी के जैसे श्रीगोवर्धननाथजी के भी मर्यादामार्गीय देवालयमें पूजा अर्चना का था. आज इन दोनोंके बजाय भलती ही कोई व्यावसायिक पद्धति चला रखी है. खेर अपसिद्धान्तवाली सेवाकी रीतिमे भी इनके श्रीजीके भक्त होनेका पाखंड करनेवालोंकी श्रद्धा सच्ची होती तो काकावल्लभजीकी तरह नाथद्वारामें रह कर सेवामें तत्पर हुआ जा सकता था. देवद्रव्यपर पेट और परिवार को पालनेवाले हम गो.बा.ओंको गाम-गाममें अपने बावा और बेटीजी के निर्वाहार्थ व्यापारिक हवेली जो श्रीजीकी तर्ज पर खडी करके चलानी हैं. उस अपनी धनलालसाको श्रीजीके बहाने उल्लु पटानेंमें मार्गीय सिद्धान्त आडे आते होनेसे किसने देवद्रव्य खाया, किसे खानेके कारण सिद्धान्त कहनेका अधिकार नहीं है, कौन किसका पुत्र है ऐसी चर्चामें बातको अन्तर्राष्ट्रीय माध्यमोंमें उलझाये रखना चाहते हैं. यह मूढतापूर्ण कुटिलताके अलावा और कुछ नहीं. मान लो कि मैं भाटियापुत्र हूं, पर महाप्रभुके दिव्य सिद्धान्त बडे अहंकारके साथ घोषित कर रहा हुं. मेरे इस अहंकारको न तो मैने भी देवद्रव्य खाया सिद्ध कर दे और न भाटिया या भंगी का पुत्र; या, शम्सुद्दीन गाली दे कर कोई तोड पाएगा. उसे तोडना या उघाडा पाडना चाहते हो तो सच्चे सिद्धन्त कह कर खुदको सच्चे वल्लभवंशज सिद्ध करो और देखो चमत्कार कि मेरा अहंकार बालुके ढेर की तरह बिखर जायेगा.

रही बात सौरभ शाहके समर्थक होनेकी तो वह मुझे 'महाराज' नाटकमे आमंत्रित करने घर आया था. मैने तब भी उसे अपनी इस महाराज लायबल केस की पुस्तक पढ कर इस चर्चामे उलझनेका सुजाव दिया था. उसने पढी या नहीं मुझे पता नही. पर न तो लेखमाला और न नाटक देखने जो बहोत सारे वैष्णव गये थे,

उनकी बातोंको सुन कर ऐसा लगा कि उसने पढने या समझने की कोशिश की हो. सो मैं न तो नाटक देखने गया और न ऐसे नाटकोंसे डरनेकी कोई बात लगी. इससे पेहले खुशवंत सिंगके कालमे पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमे गोस्वामी महाराज पुरुष वेश्याका GIGOLO बन कर पैसा कमाते हैं ऐसा लेख छपा था. बहुत सारे महाराज कहने लगे कि अब तो सुधरना पडेगा. पर देवद्रव्य खाना या नहीं इस मुद्दे पर मेरे कट्टर विरोधी एक गो.महाराजने बहुत बडी बात तब बता दी कि **"ऐसे लेखके प्रकाशित होनेपर अपन गो.महाराजोंकी विश्वभरमें ख्याति फैल जायेगी फिर तो सौराष्ट्रमें नहीं विदेशमें भी अपना ये धन्धा चल निकलेगा"** और वहांके कर्णोपकर्ण मिलते समाचारसे उनके अनुमानके सच्चे पडनेकी पुष्टि हुयी.

सो मुझे डरनेकी कोई बात नहीं लगी. खैर इससे भी मजेदार बात तो यह है कि अंबानी परिवार जो नाथद्वारा टेम्पलबोर्डमें भी ट्रस्टी है वह नाटक देखने ही नहीं गये उसे सराहा भी.

पहले गो.बा.महाराज मार्गकी ऐसी नेगेटिव पब्लिसीटीसे डरके लायबल केस करनेकी गलती कर बैठे. आधुनिक हम गो.बा.ओंको मार्गकी ऐसी नेगेटिव इमेजकी उतनी चिन्ता नहीं सताती जितनी कि अपनी देवलकताकी चिन्ता सताती है. इसीलिये ग्लोबल मिडियापर इस बारेकी हायतोबा मचा रखी है. करो खूब मचाओ और जोर लगा कर लोगोंकी इस भक्तिकी जघन्य धन्धादारीमे पुरी श्रद्धा खतम न हो जाये तब तक! सच्चे पुष्टिमार्गकी इस मूढताके कारण शायद बहुत बडी सेवा हो जानेकी एक शक्यता तो है ही.

वैसे सौरभ शाहने अपने लेखोंमे हम गो.बा.ओंकी ही हवेलियोंमे पुरुषवेश्या GIGOLO के धन्धाकी ही निन्दा की थी हवेलियोंमे भगवान् के छप्पनभोग आदिके मनोरथ और प्रसाद के धन्धेकी नहीं. हकीकतमें

तो मेरे हिसाबसे इस धन्धेकी तुलनामें जिगोलोका धन्धा इतना बुरा नहीं है. लायबलकेस खोटी कारवाहीके कारण हम गो.बा.महाराज जिगोलोका हमारा धन्धा है स्वीकारनेसे कतराने लग गये नहीं तो लायबलका मुकदमा दायर करनेवाले यदुनाथजी महाराज खुद यह धन्धा ही केवल नहीं करते थे बल्कि किसी वैष्णवको संभोगलीलाके दर्शन करने हों तो बिना झिझक दर्शन देनेकी भी भेंट वसूल करते थे. यह कोर्टमें सिद्ध हुवा इतना नहीं बल्कि इसके कारण उन्हे वेनरल डीसीज़ भी हो गयी थी. उनके इलाज करनेवाले डॉक्टरने उस वक्तके एक विद्वान महाराजसे पूछा कि आप लोग ऐसा काम क्यों करते हो तो उन्होंने निःसंकोच कबूल किया था हमारा वैभव इसी धन्धेके कारण निभता है. मगर इसपर लायबल केस कर देनेकी गलतीके कारण मार्गकी जो फजीहत हुई सो अब हम गो.बा.महाराजोंने हवेलीके धन्धेको सेफर समझके अपना लिया है. और, क्योंकि सौरभ शाह इस बारेमे कुछ भी बोलना नहीं चाहता था खुद अपनी बच्चीको, शायद तो नाटक सफल हो जाये ऐसी मानता दिलमे छिपी होनेके कारण, हवेलीमें दर्शन कराने ले गया था. यह मेरे और सौरभ शाहके बीच मतभेद ही मनभेद का प्रमुख कारण था है और रहेगा भी. पर हमारे गोस्वामिबन्धु मंदमति होनेके कारण ऐसी मोटी बात भी समझ पानेकी लायकात न होनेके कारण मेरे पर आरोप लगा बैठे. सौरभ शाहके मित्र न होनेका इन मतिभ्रष्टों को कौन समझा सकता है कि ऐसे अनर्गल प्रलाप मत करो. महाप्रभु-प्रभुचरणका वंशज होनेके नाते मुझे पूर्ण विश्वास और आस्था है कि पुष्टिमार्गमें स्त्री यदि वेश्या होनेपर भी भगवत्सेवामें अनधिकारी नहीं मानी गयी थी. अन्यथा श्रीजीके सामने कृष्णदासजी नचवा नहीं पाते, तो हम पुरुषवेश्या होनेका व्यवसाय करते भी हों तो वह निश्चित ही अनैतिक है पर भक्तिमार्गसे हमे पतित नहीं बनाता. हवेलीका धन्धा हमें भक्तिमार्गसे पतित बनाता है और मर्यादामार्गके अनुसार चांडाल पतित ताकि हम न अग्निहोत्र न सोमयाजी बननेके अधिकारी रह जाते हैं. यह तो "**मेरो ह्वैके**

जो देवद्रव्य खावेगो वो पतित ह्वै जायेगो मेरो नाहि कहावेगो" महाप्रभुके स्पष्ट निषेधके कारण निश्चित ही है. अब मैने खाया हो तब भी यही सत्य है और न खाया हो तब भी सत्य तो यही रहेगा. सो सौ चूहे खा कर भी न खानेकी ही बात स्वीकारनी पडेगी और न खाये हों तब भी पुष्टिमार्गमें सिद्धान्ततया तो घोषणीय यही है. अब इस सिद्धान्तको किसने खाया और किसने नही खाया की व्यक्तिकी निन्दा करके मूल मुद्देसे बातको भटकानेकी मूढ़ता जो प्रदर्शित कर रहे हैं, वह उनमें पुराने बापदादाओंके जैसी मर्दानगी नहीं है कि कबूल कर लें कि पुरुषवेश्यावृत्ति हमारा व्यवसाय है. ऐसे कबूल कर लें कि देवद्रव्य खाना हमारे पेट और परिवार के पालनकी लाचारी है. इस अर्थमें मैं हम आधुनिक गो.बा.ओंको नपुंसक मानता हूं. हमारे ऐसे नपुंसक गोस्वामिबन्धुओपर मुझे दया भी आती है और इस नपुंसकताके कारण यद्यपि खुदकी जाहोजलाली तो बढती है पर अकारण अपने सबके पिता "**भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् पिता**" महाप्रभुके दिव्य भक्तिमार्गकी क्षुद्र स्वार्थके कारण कितनी हानि होती है यह हमें होश नहीं है. व्यक्ति बीमार हो तो उसका इलाज हॉस्पिटलमें कराके स्वस्थ बनाया जा सकता है पर यथार्थ सिद्धान्तको न कहने-पालनेसे हॉस्पिटलको बीमार बनानेकी मूढता उजागर होती लगती है.

गो.श्या.म.

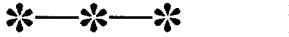

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

उद्धृतवचन	संदर्भ	पृ.क्रमांक
पुरुषस्य...स्वोपदेशतः	(साध.दीपि.७-११)	३
वृद्धिः...वृद्धिरेचि	(पा.सू.१।१।१-२, ६।१।८७-८८)	४
भूवादयो धातवः	(पा.सू.१।३।१)	४
जनिकर्तुः प्रकृतिः	(पा.सू.१।४।३०)	४
सूत्रवार्तिकभाष्येषु...च अपशब्दनम्	(तं.वा.१।३।२४)	५
धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः...विषम्	(भाग.पुरा.१०।३३।३०-३२)	५
सर्वमार्गेषु...लाभपूजार्थयत्नेषु...	(कृष्णा.१-४)	६
पुष्टिप्रवाहमर्यादा...नैकधौ	(पु.प्र.म.८-१०)	८
आनन्दांशतिरोभावः...हरेः तनुः	(त.दी.नि.२।९९-११३)	८-९
लोके...निवृत्तिर् इष्टौ	(भाग.पुरा.११।५।११)	९
वचसा वेदमार्गं हि	(भाग.पुरा.११।५।११)	९
अतएव...मोक्षप्रवेशतः	(पु.प्र.म.११)	९
पुष्टिं...फलं पुष्टौ	(पु.प्र.म.९-१०)	१०
कृष्णानुग्रहरूपा...निरूप्यते	(त.दी.नि.३।६।२-३)	१०

अनेन प्रवाहं...बाधकत्वमेव	(सुबो.३।३।१६-१७)	१०
लौकिकत्वं...ततो अन्यत्र विपर्ययः	(पु.प्र.म.२०-२१)	१०
यदा बहिर्मुखाः...मतिः मम	(शिक्षाश्लो.१)	११
पूर्वत्रासिद्धं=सपादसप्ताध्यायीं...स्यात्	(पा.सू.८।२।१ / सि.कौ.सं.प्र.)	११
त्रिभिः...त्रैगुण्यविषयाः...भव	(भग.गीता.७।१३-१४, २।४५)	१२
ज्ञानयोगश्च...मतम्	(भाग.पुरा.३।३२।३२, ११।२५।२४)	१२
यस्मात्...पुरुषोत्तमः	(भग.गीता.१५।१८)	१२
वक्ता...कृष्णः सेव्यः	(त.दी.नि.प्र.१।३-४)	१३
श्रावणस्य...वर्जनम् आचरेद्	(सि.र.१-४)	१४
कश्चिदेव...यो...निश्चयः	(पु.प्र.म.४)	१४
भक्तिमार्गस्य...निश्चयः	(पु.प्र.म.२)	१४
मार्गो...सर्वथा...गुणात्मनः	(भाग.पुरा.१०।२९।१४)	१५
येनकेनचित्...तन्मयतां हि ते	(भाग.पुरा.१०।२९।१५)	१५
प्रकारेणापि...स्वयं...	(त.दी.नि.प्र.२।२२२-२२७)	१५-१६
सेवाकृतेः...दैहिकाद्	(नव.७ वि.धै.आ.३-४)	१६
सर्वधर्मान्...अकुतोभयः	(भग.गीता.१८।६४, भाग.पुरा.११।१२।१-१५)	१६-१७

गृहे स्थित्वा...वा	(भ.व.२, सुबो.३।२८।२)	१७
तोकों...कबहुं छोड़ेंगे नाहिं	(२५२वै.वा.१६४)	१७
तस्मात्...केवलान्धंतमोगाः	(वल्लभा.३)	१८
अत्रापि...पातः	(त.दी.नि.२।२१६)	१८
परम्...निश्चीयते	(त.दी.नि.प्र.२।२२६)	१९
मत्तः...ज्ञानम्...च	(भग.गीता.१५।१५)	१९
नहि...ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये	(भाग.पुरा.६।९।३६)	२०
अन्यथाप्रतिभानं...सर्वम्...(ब्रह्मण्येव=जीवेषु न)...शोभते	(सुबो.२।९।३२)	२०
किंबहुना!... मुख्यः	(अणुभा.२।२।३२)	२०
दिनांक ६-१०-८६ अनेक गोस्वामिबालकोंकी सभामें	संयुक्त.घो. (२२ वें अनुच्छेद एस.सी.आर.५६१,१९६४)	२१
सार्वजनिक देवालय...सम्पत्ति है	सर्वो.न्याय.निर्ण.के अनुच्छेद(६१)	२१-२२
जिन सार्वजनिक मन्दिरोंमें,...पातित्यकारी ही होता है...कभी लेंगे नहीं	(शप.प.पृ.५)	२५
पुष्टिमार्गीओने...सद्भावपूर्ण चर्चासभा	(च.स.वि.वि. पृ.३३८)	२५-२६
आचार्यचरणका...दयया...तो वाणीसे...संलग्न... बहिर्मुखता अपने-आप दूर हो जायेगी	(भरु.शिबि.विव.पृ.११९-१२०)	२६-२७
सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा...असाधनं साधनं करोति इत्यादि	(त.दी.नि.प्र.१)	२७
न अन्यदेवं...समर्चनम्	(साध.दीपि.६८)	२८
हमारे ठाकुरको...देवालयकी...श्रीआचार्यजी...अक्षयतृतीयाके दिन...बुलावो	(८४ वै.वा.२४।१, ७३।१)	२८-२९
गिरौ...देवः सर्वेश्वरो हरिः	(श्रीपौ.संहि.३६।२९५-३३४)	३०
अथ...उत्सवस्तु महान्...वर्णने	(संव.कल्प.१-३)	३०
इस...विट्ठलराय...९ खुरदाद माह इलाही ३९ जुलुसी	(बा.फरमान ४)	३१
Maharajadhiraj...Rajsingji commands...as Shrinathji...	(As an Annexture No.5/13,5/13A along with appeal in Supreme Court case no.652 and 757 in the year 1962 by T.G. against State of Rajasthan)	32
पोतानां...श्रीकृष्णनो...थई कृष्णसेवा करवी...पुष्टिमार्गीय...देवालयोनी...शकतो नथी...न थवुं...-सिद्धान्तथी विपरीत...प्रत्यक्ष के परोक्ष...न आपवो	मेरे शब्द : अने जो साडुभाईनी शै-शरमने कारणे आपवो ज पड़तो होय तो तेने 'अपवाद' घोषित करी देवो (तारीख.५।२।२०१३)	३३

ततो...उक्तो विमुमोच ह	(भाग.पुरा.३।२०।२४-२८)	३४
पुष्टिसर्गप्रणेता	(पु.स.ना.४०)	३५
पुष्टिः'=पोषणम्...स्वेच्छया...इत्यतः पुष्टिसर्गत्वं युक्तम्	(ना.च.४०)	३५
वसुकामो वसून् : एवं... देयम् अपेक्ष्यते... भवतीति	(सुबो.२।३।३)	३५
द्विजो...च तत्फलं...पातकात्	(भाग.पुरा.१२।१२।६३-६४)	३६
प्रौष्ठपद्यां...यो भागवतं	(भाग.पुरा.१२।१३।१३)	३६
कथान्ते...ब्राह्मणान्...समर्पयेत्	(स्का.भाग.माहा.४।४५।४६)	३७
तब...वेश्या...लगेगी	(८४ वै.वा.९।१)	३९
जो...वेदमारगकी रीतिसों चलनो परे	(१२०वच.८१)	३९
सो ऐसे...करनो पड़्यो	(१२० वच.३९, ६८, ७८, ४६, ४६)	३९-४०.
जो...श्रीनाथजीको द्रव्य अपने अंग मति लगाईयो!	(१२० वच.३९, ६८, ७८, ४६, ४६)	४०
सो...अजबकुंवरीबाईको...करे हैं	(१२० वच.३९, ६८, ७८, ४६, ४६)	४०
सो...घसियाड़में...ना पाड़नेका साहस कैसे हुवा	(१२० वच.३९, ६८, ७८, ४६)	४०
फिर...श्रीदाउजी	(१२० वच.३९, ६८, ७८, ४६, ४६)	४०-४१

इते चल...'घनश्यामप्यारे'...महाप्रसाद सजाय बैठे हाटपे	(घन.श्रीनाथ.)	४२
what effect..yamuna to Banas	Annals & Antiquities of Rajasthan by James Tod page 526.lines 1to5	४३
सद्यः...क्षीरविक्रयात्	(मनु.१०।९२)	४५
श्रीमहाप्रभुजीने...प्रभु सेवा अंगीकार नहीं करें हैं. तासु जीवमात्र को अंतराय पड़ जाय है	(वच.४१।२१)	४४
(क)श्रीनाथजीके यहांते...देवद्रव्य कैसे लेउ?	(२५२ वै.वा.१५६)	४४-४५
तब श्रीगुसांईजी...आपु ही आयेगो	(८४ वै.वा.८४।१०)	४६-४७
असन्तुष्टि...किं वाच्यम्!	(२५२ वै.वा.१।४)	४७
पीछे दूसरे...ऊहां तो अग्निसंस्कार होय गयो	(१२० वच.७१)	४८-४९
लोके स्वास्थ्यं...चिन्तां द्रुतं त्यजेत्	(न.र.६-८)	४९
त्रिदुःखसहनं धैर्यम् आमृतेः...सदा	(वि.धै.आ.५-६)	४९
अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्	(त.दी.नि.२।१८२)	५२,५५
अन्यस्य...ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्	(वि.धै.आ.१४)	५३
जगन्नाथे विट्ठले...तिष्ठेत् तत्परः	(त.दी.नि.२।२५५, सा.दी.३६)	५४
लौकिकस्य...तन्त्रोक्तप्रकारेणापि कृष्णमेव...भजेत्	(सुबो.११।३।४७)	५४
मल्लानामशनिः नृणां नरवर	(भाग.पुरा.१०।४०।१७)	५५
कर्ममार्गे ... न त्वनिष्टं किञ्चित्	(त.दी.नि.२।२५६-२७१)	५६-५७
जीवमात्रस्य ...श्रवणादिषु भिन्नम्	(भ.हं)	५८
येऽपि अन्यदेवताभक्ता...अविधि-पूर्वकम्जइ५(भग.गीता.९।२३)		५८-५९
स्वाचार्यैः = श्रीविट्ठलेशैः...धूर्तकल्पितः	(उ.सु.१६१-१६४)	६०
केवल ... छोड़ दियौ	[बृहत्स्तोत्रसरित्सागरके प्रथम संस्करण सं.१९४१के प्रकाशक गोवर्धनदास लक्ष्मीदासकी भूमिका पृ.११). इसपर तत्कालीन देवकीनन्दनाचार्य(कामां) जीवनलालजी(काशी) जीवनेशाचार्य(पोरबन्दर) श्रीविट्ठलेश(पोरबन्दर) श्रीघनश्यामलाल(मुम्बई) नन्दकुमार-शास्त्री गट्टुलालजी आदि की सम्मति युक्त प्रकाशनार्थ आज्ञापत्र सहमुद्रित है]	६०
सब श्रीवल्लभकुलके ...वचनामृतोंसे...है	('२५२ वै.वा.का विश्ले.अध्य.'पृ.२९ सम्पा.आमु.श्रीद्वार.परी.)	६१-६३
एतद्विरुद्धं यत्...कथञ्चन	(त.दी.नि.१।८)	६३-६४
ब्रह्मन्...श्वाय भूभृते	(गर्गसं.माहा.१।२६)	६४

पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिण...वैकंटे तथा	(त.दी.नि.२।२५५)	६४
जगन्नाथे...तिष्ठेत् च तत्पर:	(साध.दीपि.३६)	६४
आप... श्रीगोर्वधननाथजी...हैं	(उद्धृत.श्रीनाथ.प्रा.वा.)	६६
श्रीनाथजीकी...प्रकट भये हें	(वहीं उद्धृत.श्रीनाथ.प्रा.वा.पृ.११-१२)	६६,६७
गंगादितीर्थवर्येषु...तिरोहिताधिदेवेषु	(कृष्णा.३)	७०
जगन्नाथे...गंगादितीर्थवर्येषु	(साध.दीपि.३६ - ३७)	७०
तब...प्रकट करो	(८४ वै.वा.७३।२)	७०
मार्गेकत्वेऽपि...वैदिक:	(पु.प्र.म.६)	७१
अत:...जगतो हितकारकौ	(बा.बो.११)	७३
स्वीयान्...पञ्चामृतस्नानम्	(साध.दीपि.१०८, श्रीहरि.कृत ६६अपरा.निरू.११)	८१
जगन्नाथे...सारे उपदेश	(साध.दीपि.२४ - ५१)	८२-८३
क्रीड़ार्थम्...कायभवा...अनुत्तमा	(साध.दीपि.५२)	८३
लध्वीमेव...यथालब्धोपचारकै:	(साध.दीपि.८७)	८३
विकल्पएव...स्थानानाम्	(त.दी.नि.प्र.२।)	८६

जगन्नाथे...च तत्परः	(त.दी.नि.२।२५५)	८७
पारम्पर्यजीवनमपि...त्यक्तव्यम्	(त.दी.नि.प्र.२।२३२)	९०
अतएव...विभावनीयम्	(सु.बो.यो.१०।२१।३५)	९२
अतः...सह स्थापिताः	(सु.बो.यो.१०।२१।३५)	९४
युवां मां...पराम्	(भाग.पुरा.१०।३।४५)	९५
अतस्तु...विधीयताम्	(सि.मु.१२)	९५
न मतं...सर्वेषां ब्रह्मता ततः	(सि.र.५-८)	९५
सर्वदा...भजनीयो व्रजाधिपः	(चतुः.श्लो.१)	९५
हृदि कृत्वा...गृहं व्रजेत्	(साध.दीपि.११४-११५)	९५
और...करनो पड़्यो	(१२० वच.३९)	९६
सर्गभेदं...कायेन निश्चयः	(पु.प्र.म.८-९)	९८
जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्	(ब्र.सू.१।१।२)	९८
इति जीवेन्द्रियगताः...निरूपिताः	(ज.भे.२१)	९८
इदं...न साधयति	(त.दी.नि.प्र.३।१।२७)	९८
मूलग्रन्थाऽविरुद्धो...धूर्तकल्पितः	(उ.सु.१६४)	१००
जो...टट्टु चलावे	(संवत १९४८ बृ.स्तो.स.सा.भूमि. पृष्ठ ११)	१००-१०१

The Blakatananda...triumphed over buddhdev	वॉदोविले का आलेख	१०२-१०४
अतः...तयोः कृता	(बा.बो.११-१३)	१०३
अंगीकृतिश्च...नित्या	(परि.पत्रो.वि.६)	१०५
क्लिष्टं न समर्पयेत्	(त.दी.नि.प्र.२।२३६)	१०६
तिहारे...खिजावत हैं	(८४ वै.वा.११।१)	१०६
श्रीकृष्णस्य	(सर्वो.७)	१०७
श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमः...	(सर्वो.१६)	१०७
तस्यैव...सन्मनुष्याकृतिरतिकरुणः	(श्रीवल्ल.स्तो.१)	१०७
अर्थं...व्यासवत् श्रीपतिः	(सुबो.१।१।१)	१०७
यत् कृतं...करोति	(श्रीवल्ल.स्त्रो.४)	१०८
श्रीगोकुलकृतावासः...गोपीसम्बन्धिसत्कथः	(नाम.रत्न.स्तो.१०-१३)	११०
और श्रीनाथजीके...नहीं हें	(वचना.२०)	११२
यत्र...न तारतम्यम्	(अणुभा.४।१।११)	११४
कृष्ण पदेन...मुख्यम्	(त.दी.नि.१।१३)	११४
मानसी...मता	(सि.मु.१)	११४
पृथ्वीमें...द्वारका पधारे	(निज.वार्ता.४२, द्रष्ट.२५२ वै.वा.१।३)	११४

वहां कोउ...जाई तातें	(प्रक्षिप्तांशसहित नि.वा.५९)	११६
यत्र तत्र...निष्क्रमणेषु च	(श्रीपौ.संहि. द्रष्ट.३६।२९५-३३६)	११६
यदि...किं वाच्यम्	(२५२ वै.वा.१।४)	१२०
भक्तानां...गृहएव विशिष्यते	(त.दी.नि.१।५१)	१२३
दर्पस्तु...विशेषः स्यात्	(सुबो.१०।५७।२९)	१२४
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिः...अकिञ्चनगोचरम्	(भाग.पुरा.१।८।२६)	१२४
भक्त्यभावेतु...यत्र पूजाप्रवाहः...स्यात्	(सि.मु.१७,२०, त.दी.नि.प्र.२।२५५, साध.दीपि.३६)	१२४-१२५
अत्रापि वेदनिन्दायां...हीनेषु जायते	(त.दी.नि.२।२१७)	१२५
यत्र प्रतिमादौ...परार्पितमपि	(सत्.सिद्धा.प्रश्न ५।७)	१२८
भगवति प्रमेयबलमेव...न प्रमाणबलम्	(सुबो.१०/८४/२३)	१३३,१३६
तदभावे...तत्र (मूर्तौ)...स्थितम्	(त.दी.नि.२/२३०-२३२)	१३३
अपः...ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्	(मनु.स्मृ.१०/८१-९२)	१३५
कृष्णसेवापरं...यथा लब्धोपचारकै	(त.दी.नि.२/२३०-२३२)	१३७
लब्धानुग्रह...मूर्त्याभिमतया आत्मनः	(भाग.पुरा.११/३/४८)	१३८
महापुरुषः = श्रीकृष्णः...स्वभावो नियामकः	(सुबो.११/३/४८)	१३८
त्यागे...यथा चित्तं न दुष्यति	(भ.व.७-८)	१४२

एतत्...सर्वहेतुविवर्जितम्...कृष्णम् अवाप्नुयात्	(त.दी.नि.२।२४६-२५४)	१४२-१४३
जगन्नाथे...श्रीरङ्गे वेंकटे...तत्परः	(त.दी.नि.२/२४६-२५५)	१४३
परमात्मनो विधिना...केशवमेव भजेत्	(सुबो.११।३।४७)	१४३
निरालम्बो यथा...विनिगद्यते	(सुबो.११/३/२८-२९)	१६१
तव परि...अखिललसत्त्वनिकेतया	(भाग.पुरा.१०।८४।२७)	१९४
त्वत्सम्बन्धिनं यं...	(सुबो.१०।८४।८७)	१९४
श्रीमूर्तेरपि...सिद्धा	(पुरुषो.प्रति.प्र.)	१९४

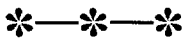

उद्धरण तालिका

ग्रंथ संकेत	ग्रंथ नाम	ग्रंथ कर्ता
पा.सू.	पाणिनि सूत्र	श्रीपाणिनि
तं.वा	तंत्र वार्तिक	कुमारिल भट्ट
भाग.पुरा.	भागवत पुराण	महर्षिवेदव्यास
कृष्णा.	कृष्णाश्रय	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
पु.प्र.म.	पुष्टिप्रवाहमर्यादा	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
त.दी.नि.	तत्त्वार्थदीपनिबंध	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
सुबो.	सुबोधिनी	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
शिक्षाश्लो.	शिक्षाश्लोकी	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
सि.कौ.सं.प्र.	सिद्धान्त कौमुदी संज्ञा प्रकरण	श्रीपाणिनि
भग.गीता.	भगवद्गीता	महर्षिवेदव्यास
त.दी.नि.प्र.	तत्त्वार्थदीपनिबंध प्रकाश	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
सि.र.	सिद्धान्तरहस्य	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
नव.	नवरत्न	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
वि.धै.आ.	विवेकधैर्याश्रय	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
भ.व.	भक्तिवर्धिनी	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
२५२वै.वा.	२५२वैष्णव वार्ता	श्रीगोकुलनाथजी
वल्लभा.	वल्लभाष्टक	प्रभुचरणश्रीविट्ठलनाथ
अणुभा.	अणुभाष्य	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
संयुक्त.घो.	संयुक्तघोष्णापत्र	गोस्वामी बालकें
सर्वो.न्याय.निर्ण.	सर्वोच्चन्यायालय निर्णय	न्यायाधीश
शप.प.	संयुक्त शपथ पत्र	गोस्वामी बालकें
च.स.वि.वि.	चर्चा सभा विस्तृत विवरण	गोस्वामी श्याम मनोहर
भरु.शिबि.विव.	भरुच शिबिर विवरण	गोस्वामी श्रीशरद
साध.दीपि.	साधनदीपिका	श्रीगोपीनाथजी
८४वै.वा.	८४वैष्णव वार्ता	श्रीगोकुलनाथजी

श्रीपौ.संहि.	श्रीपौष्कर संहिता	श्रीपौष्कर
बा.फरमान	बादशाही फरमान	बादशाह अक्बर
पु.स.ना.	पुरुषोत्तमसहस्रनाम	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
स्का.भाग.माहा.	स्कान्धभागवतमाहात्म्य	महर्षिवेदव्यास
१२०वच.	१२०वचनामृत	श्रीगिरधारीजीमहाराज
घन.श्रीनाथ	घनश्यामसागर श्रीनाथद्वारातरंग	कवि घनश्याम
मनु.	मनुस्मृति	मनु
वच.४१	४१ वचनामृत	श्रीगोवर्धनलालजीमहाराज
न.र.	नवरत्न	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
ना.च.	नाम चंद्रिका	श्रीरघुनाथजी
भ.हं.	भक्तिहंस	प्रभुचरणश्रीविट्ठलनाथ
उ.सु.	उपदेशसुधा	श्रीगोविंदप्रभु
गर्गसं.माहा.	गर्गसंहितामाहात्म्य	(छद्मनामा)
उद्धृत.श्रीनाथ.प्रा.वा	श्रीनाथप्राकट्यवार्ता	(छद्मनामा)
बा.बो.	बालबोध	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
सुबो.यो.	सुबोधिनीयोजना	श्रीलालूभट्टजी
सि.मु.	सिद्धान्तमुक्तावली	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
चतुः.श्लो	चतुःश्लोकी	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्र	महर्षिवेदव्यास
ज.भे.	जलभेद	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य
बृ.स्तो.स.सा.भूमि.	बृहत्स्तोत्रसरित्सागर भूमिका	गोवर्धनदासभाई
परि.पत्रो.वि.	परिशिष्ट पत्रोल्लिखित विज्ञप्ति	प्रभुचरणश्रीविट्ठलनाथ
सर्वो.	सर्वोत्तमस्तोत्र	प्रभुचरणश्रीविट्ठलनाथ
श्रीवल्ल.स्तो.	श्रीवल्लभाष्टकस्तोत्र	प्रभुचरणश्रीविट्ठलनाथ
नाम.रत्न.स्तो.	नामरत्नाख्यस्तोत्र	श्रीरघुनाथजी
वचना.	श्रीवल्लभजीके वचनामृत	कामवनवाले श्रीवल्लभजी
नि.वा.	निजवार्ता	...
सत्.सिद्धा.	सत्सिद्धान्त मार्तण्ड	श्रीगट्टुलालाजी

संव.कल्प.	संवत्सरोत्सवकल्पलता	श्रीव्रजरायजी
अपरा.निरू	अपराधनिरूपण	श्रीहरिरायजी
भ.हे.नि	भक्तिहेतुनिर्णय	प्रभुचरणश्रीविट्ठलनाथ
सम्पा.आमु.श्रीद्वार.परि.	वैष्णववार्ताका विश्लेषण अध्याय सम्पादकिय आमुख	श्रीद्वारकादास परीख
fb	face book	zukerberg
पुरुषो.प्रति.प्र.	पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार	प्रभुचरणश्रीविट्ठलनाथ